वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२
विवेक ज्योति
वर्ष ५५ अंक ६ जून २०१७
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०१७

वर्ष ५५
अंक ६

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–

१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :

सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124

IFSC CODE : CBIN0280804

कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।

विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर; ५ वर्षो के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com

वेबसाइट : www.rkmraipur.org

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक) रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

जून माह के जयन्ती और त्योहार

०९ स्नान-यात्रा

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द की यह मूर्ति रामकृष्ण मिशन इन्स्टिट्युट ऑफ कल्चर, कोलकाता की है ।

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री घनश्याम अग्रवाल, बडगढ़ (ओडिशा)	५०००/-
स्व.सौ. इंदिराबाई वैशंपायन की स्मृति में	२०००/-
श्री शम्भू शरण सिन्हा, पाटलीपुत्र, पटना	११०००/-
श्री ग्यानी राम लिल्हारे, रायपुर (छ.ग.)	२०००/-
श्री बी.पी. विश्वकर्मा, बिलासपुर (छ.ग.)	१०००/-
श्री भीकुलाल किशोर चांडक, नागपुर (महा.)	४०००/-
श्री अनिल कुमार बंसल, इन्दौर (म.प्र.)	१०००/-

क्रमांक	विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
२१८.	श्रीमती मीनू शुक्ला, इलाहाबाद (उ.प्र.)	शासकीय महाविद्यालय, बूंदी (राजस्थान)
२१९.	श्री घनश्याम अग्रवाल, बरगढ़ (ओडिशा)	शा. विश्वनाथयादव तामस्कर पी.जी.महाविद्यालय दुर्ग (छ.ग.)
२२०.	,, ,,	शा. महाविद्यालय, चितौड़गढ़ बायपास लेन, निम्बाहेरा (राज.)
२२१.	,, ,,	शा.आर.वी.पी.एस. डिग्री कॉलेज,शाहपुर रोड, उमरिया (म.प्र.)
२२२.	,, ,,	शा. कोदूराम दलित महाविद्यालय नवागढ़, बेमेतरा (छ.ग.)
२२३.	,, ,,	जी.एच.एस. गवर्नमेंट पी.जी. कॉलेज, सुजानगढ़, (राज.)
२२४.	कु. प्रज्ञा अग्रवाल, रोहतास अपार्टमेंट, लखनऊ	गवर्नमेंट कॉलेज ऑफ एजुकेशन, यूनिवर्सिटी रोड, रीवा,म.प्र.
२२५.	श्री ए.सी. बियानी, शैलेन्द्र नगर, रायपुर (छ.ग.)	शास. एल.सी.एल. महाविद्यालय, अम्बागढ़ चौकी (छ.ग.)
२२६.	,, ,,	शासकीय महाविद्यालय, महुआ, दौसा (राजस्थान)
२२७.	,, ,,	शासकीय महाविद्यालय, अमरपाटन, सतना (म.प्र.)
२२८.	,, ,,	शासकीय चन्द्रपाल महाविद्यालय, पिथौरा (छ.ग.)
२२९.	,, ,,	शासकीय महाविद्यालय, राजाखेड़ा, धौलपुर (राजस्थान)
२३०.	श्रीमती शेफाली उत्पल डे, बिलासपुर (छ.ग.)	आनन्दी माँ गुरु ध्यान योगीजी कल्याण केन्द्र, भरुच (गुज.)
२३१.	स्व. श्री टिकेन्द्र सिरमौर की स्मृति में, रायपुर	रूंगटा कॉलेज ऑफ साईस एंड टेक्नोलॉजी, कोहका, भिलाई
२३२.	श्री एस.के. मजूमदार, गोवा	शासकीय महाविद्यालय चुरहट, सीधी (म.प्र.)
२३३.	श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकर नगर, रायपुर	आर.आर.एस.डी. कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, बेगुसराय, बिहार
२३४.	,, ,,	शेरशाह कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, सासाराम (बिहार)
२३५.	भारत पैकेजींग, बीरगाँव, रायपुर (छ.ग.)	शा. महाविद्यालय मगरलोड, जिला - धमतरी (छ.ग.)
२३६.	,, ,,	आर.एन.सिंह शासकीय महाविद्यालय, वैढान, सिंगरौली,म.प्र.
२३७.	,, ,,	एस.एस. बी.बी. गवर्नमेंट कॉलेज, सगवारा, डुंगरपुर (राज.)
२३८.	श्री गजेन्द्र नारायण सिंह, अम्बिकापुर (छ.ग.)	शास. बहु.उच्च. मा. विद्यालय अम्बिकापुर,जि. सरगुजा (छ.ग.)
२३९.	,, ,,	शा. उ.मा. विद्यालय, उदयपुर, जिला-सरगुजा (छ.ग.)
२४०.	ब्र.दिलीप एवं श्रीमती सविता बॅनर्जी, जशपुर (छ.ग.)	गाँधी पुस्तकालय, पोस्ट ऑफिस के पास, जशपुर (छ.ग.)
२४१.	,, ,,	हिन्दू गर्ल्स कॉलेज, जगाधरी, यमुना नगर (हरियाणा)
२४२.	,, ,,	गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी कॉलेज, चुंग, तरण-तारण (पंजाब)
२४३.	,, ,,	पी.जी. गवर्नमेंट कॉलेज फॉर गर्ल्स, सेक्टर - ४२,चंडीगढ़
२४४.	,, ,,	भारतीय महाविद्यालय, फर्रूखाबाद (उत्तर प्रदेश)

वर्ष ५५ जून २०१७ अंक ६

हे भगवति गंगे !

समृद्धिं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ।।

– हे भगवति गंगे ! आपका जल सम्पूर्ण पृथ्वी को समृद्धि, सम्पन्नता और सौभाग्य प्रदान करनेवाला है । यह महेश्वर शिव का वैभव और और वेदों का सर्वस्व है । यह अमृतमय और देवों का मूर्तिमान पुण्य है । यह पावन जल हमारे अमंगल का शमन करे, हमारा मंगल करे ।

अनल्पतापाः कृतकोटपापा
गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः
विलोक्य गंगां विचलतरंगा-
ममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति ।।

– गंगा के विमल प्रवाहित तरंगों का दर्शन कर अत्यधिक तप्त, कोटि पाप किये हुये, रोगों से जीर्ण-शीर्ण और इस जगत के दुखों से व्यथित लोग सुखी हो जाते हैं ।

पुरखों की थाती

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवन-त्रय-तिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ।।५५२।।

– जिसे सम्पत्ति के प्राप्त होने पर हर्ष नहीं होता, विपत्ति आने पर दुःख नहीं होता और युद्ध में भय नहीं होता, ऐसे त्रिभुवन के तिलकस्वरूप बिरले पुत्र को ही कोई माता जन्म देती है ।

संतोषामृत-तृप्तानां यत्सुखं शान्त-चेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितचेतश्च धावताम् ।।५५३।।

– सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्त चित्तवाले व्यक्ति को जो सुख होता है, वह सुख धन के लोभ से इधर-उधर भटकने-वालों को भला कैसे मिल सकता है?

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले ।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह ।।५५४।।

– संसार रूपी विषवृक्ष के दो ही सरस फल हैं, एक तो काव्य रूपी अमृत का रसास्वादन और दूसरा सज्जनों की संगति ।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ।।५५५।।

– आये हुए सुख के समान ही आये हुए दुख का भी सेवन करना चाहिये, क्योंकि दुख तथा सुख चक्र के समान एक के बाद एक आते रहते हैं ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल-नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।५५६।।

– सभी उपनिषदें गायें हैं, उन्हें दूहनेवाले श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़े हैं, विवेकी जन इस गीता रूपी दूध को पीनेवाले हैं ।

विविध भजन

रामकृष्ण सम ध्याऊँ

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

मैं तो सब देवन सिर नाऊँ ।
अखिल जगत सब देव-देवि में
रामकृष्ण को पाऊँ ।।
घट-घट व्यापी प्रभु हैं मेरे,
एक किन्तु नाम बहुतेरे ।
उनके सत्-चित्-आनन्द रूप को,
सबके भीतर पाऊँ ।। मैं तो ...

वे दुर्गा-काली शिव-शक्ति,
सीता-राधा-सारदा-प्रकृति ।
मात-पिता-गुरु-मुनि जन-जन को,
रामकृष्ण सम ध्याऊँ ।। मैं तो ...

प्रभु का है पूरा संसार,
यही सत्य वस्तु है सार ।
सरिता गिरि-गह्वर-सागर में,
उनको बैठा पाऊँ ।। मैं तो सब ...

जहाँ भी जाऊँ, जिसको पाऊँ,
उसमें प्रभु की मूरति पाऊँ ।
शरणागत हो उनकी गोद में,
उनका ही गुण गाऊँ ।। मैं तो ...

देव-दनुज-सुर-पशु-सर्पों में,
सत्कर्मों और सद्धर्मों में ।
कण-कण व्यापी परमात्मा भज,
आनन्द धाम को जाऊँ ।। मैं तो ...

भज रामदूत दयालु

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

भज रामदूत दयालु करुणा–
धाम अंजनि नन्दनम् ।।
कर बज्र शिर शुभ मुकुट सोहत
हेम तनु अति सुन्दरम् ।
उर माल तुलसी तिलक भाल
कृपाल कपि शोभायनम् ।।
प्रेमाम्बुपूरित नयन पुलकित
सुनत श्री रामायनम् ।
कर युगल जोरि विभोर हो
कपि पियत प्रभुलीलामृतम् ।।
नित युगल नाम ललाम सीता–
राम सुमिरत दायकम् ।
सर्वस्व जन 'राजेश' के सुख–
सिन्धु कपि कुल नायकम् ।।

धन्य हुआ जो ग्राम

स्वामी रामतत्त्वानन्द

चलो मन कामारपुकुर ग्राम ।
बैकुंठ छोड़ आये प्रभु पुण्य लीला धाम ।।
उगा सूरज सतयुग का जहाँ मधुर सुन्दर नाम ।।
हालदारपुकुर मानिक अमराई योगियों का शिवधाम ।।
कण-कण जहाँ अंकित है बाल गदाई नाम ।।
जहँ संग सखा ग्रामवासी करे लीला अविराम ।।
आनन्दकन्द आनन्द विहारी रामकृष्ण मधु नाम ।।
माँ सारदा पुण्य चरन से धन्य हुआ जो ग्राम ।।

त्रिभुवनतारिणी गंगा

सम्पादकीय

पवित्राणां पवित्रं या मंगलानां च मंगलम्।

महेश्वरशिरोभ्रष्टा सर्वपापहरा शुभा।।

– भगवान शिव के शीश से उद्भूत गंगाजी पवित्रों को भी पवित्रकारिणी, मंगलों की मंगलप्रदान करनेवाली, सर्वपापहारिणी और शुभकारिणी हैं।

इस वर्ष जून में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को गंगादशहरा है। इसी दिन गंगाजी धरा पर अवतरित हुईं। तीन कायिक, चार वाचिक और तीन मानसिक – दस प्रकार के पाप-नाश करने के कारण इसे गंगादशहरा कहा जाता है –

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुता।

हरते दश पापानि तस्माद् दशहरा स्मृता।।

भारतीय संस्कृति में जीवों के दुखनाश के लिये अनेक मार्गों का दिग्दर्शन किया गया। विभिन्न प्रकार की साधनाएँ निर्देशित हुईं। तदनुसार देवस्थानों में, विभिन्न तीर्थों, सरित, गिरि-गह्वर में साधना के स्वर गूंजित हुये। उनमें महत्त्वपूर्ण हैं शिवजटावासिनी गंगा का सान्निध्य। भारतीय दर्शन की अवधारणा है कि सम्पूर्ण जगत ईश्वर की सृष्टि है। इसलिये वह सबकी ईश-भावना से उपासना करता है। गंगा की उपासना जगदुद्धारिणी देवी के रूप में भारतवासी अनन्तकाल से करते चले आ रहे हैं। भारतीय संस्कृति में गंगा की विशेष महिमा का सर्वत्र वर्णन मिलता है। लोक और वेद दोनों संस्कृतियों ने गंगा-महिमा का प्रतिपादन किया है। लोक साहित्यकार, लोक संस्कृति और हिन्दी साहित्यकारों ने भी पतितपावनी मंगलकारिणी जाह्नवी की विशिष्ट महिमा का मुक्त कंठ से गायन किया है।

ऋग्वेद में कहा गया –

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णाया।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।।

– हे गंगे ! यमुने ! सरस्वती ! शुतुद्रि ! परुष्णि ! असिक्नी के साथ मरुद्वृधे ! वितस्ता और सुषोमा नदियों से युक्त आर्जीकीये ! आप लोग सदा स्तुति करने के योग्य हैं। आप मेरी स्तुतियों को सुनने की कृपा करें। पुराणों ने गंगा को 'पापतापहरा' कहा है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी महान कृति 'श्रीरामचरितमानस' में 'गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला।।' से गंगा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की। सकलजीव-शरणदायिनी माँ गंगा के ऋण से मानव कभी उऋण नहीं हो सकता, ऐसी माँ के प्रति श्रद्धार्पण करने को लेखनी बरबस उठ जाती है। गंगाजी का जब स्मरण होता है, तो उनकी कृपा-कटाक्ष के रूप मानस-पटल पर आ जाते हैं – सगर-पुत्रतारिणी गंगा, कलि-कलुष-नसावनि गंगा, ऋषि-नर आश्रयदायिनी गंगा, रोग-शोक-विनाशिनी गंगा और सर्वोपरि है समग्र मंगलों की मूल शंकरजटावासिनी लोक-शिवकारिणी और जीव-मोक्ष प्रदायिनी गंगा।

असंख्य ऋषि-मुनियों को माँ ने अपने सुरम्य तट पर आश्रय देकर उनकी साधना में सिद्धि प्रदान की है। उनका तट असंख्य निराश्रितों की स्थायी शरणस्थली है। साधु-सन्त-भक्तों को अपनी गोद में स्थान देकर माँ ने उन्हें पापमुक्त कर मुक्ति प्रदान की। क्षुधा-तृषार्तों की तृषा शान्त की। गोमुख से गंगासागर तक की यात्रा में गंगा सिंचाई, पेय, बिजली, आवागमन की सुविधा, औद्योगिक विकास आदि के द्वारा माँ असंख्य लोगों की जीविका का साधन बनीं। धनार्जन के अनेकों विकल्प प्रस्तुत किए। उन्होंने पूत गंगाजल के रूप में घर-घर, जन-जन को पवित्रता, मुक्ति और शान्ति प्रदान किया। इसलिए गंगा की अक्षुण्णता, स्वच्छता और अबाधगति से निरन्तर प्रवाह हेतु भारत सरकार ने स्वच्छ गंगा अभियान चलाया है। जनमानस में गंगा के अविच्छिन्न निर्मल प्रवाह की सजगता हेतु विभिन्न प्रकार के संदेश और योजनाएँ पहले से ही जनता में प्रसारित की जाती रही हैं। वाराणसी में तुलसी घाट पर स्वच्छ गंगा अभियान के द्वारा व्याख्यान, कवि सम्मेलन आदि अन्य कार्यक्रम वर्षों से होते रहे हैं। ऋषिकेश, हरिद्वार आदि में भी गंगा की धवल धारा की गुणवत्ता को संरक्षण देने का प्रयास वर्षों से होता चला आ रहा है। अनेकों स्वयंसेवी संस्थाओं और प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा गंगा-सफाई के कार्य होते रहे हैं। बड़े सौभाग्य का विषय है कि मानव की सर्वहितकारी गंगाजी की विमल गुणवत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु भारत सरकार पृथक मन्त्रालय बनाकर सुरक्षा का प्रयास कर रही है। देश के सभी नागरिकों का परम कर्तव्य है कि वे गंगाजी को स्वच्छ रखने में सहायता

करें।

माँ सुरसरि की भौतिक अपरिहार्य अविकल्प आवश्यकता के अतिरिक्त इनका सर्वप्रमुख आध्यात्मिक स्वरूप है, जो युगों-युगों से मानवता को पवित्रता, भक्ति और मुक्ति वितरण करते चला आ रहा है। गंगा भारतीय सभ्यता की प्रतीक, गरिमा, आन और मान हैं। वे केवल जल नहीं हैं, वे तो जल-थल-नभचर समस्त प्राणियों की जीवनदायिनी, पोषणकारिणी साक्षात् माँ हैं। जैसे माँ अपनी अबोध सन्तान को गोद में लेकर सस्नेह उसे स्वच्छ, सुन्दर और तेजस्वी बना देती है। वैसे ही माँ गंगा अपनी गोद में लेकर निज शीतल स्वच्छ जल से हमारे शरीर को निर्मल, सबल बनाकर हमारे चित्त को पवित्र करती हैं, हमारे जन्म-जन्मान्तरों के पापों का विनाश कर निष्पाप कर देती हैं। पतितपावनी गंगा के बारे में ऋषि वर्णन करते हैं –

पापतापाभितप्तानां भूतानमिह जाह्नवी।
पापतापहरा यद्वद् गंगा नान्यत्तथा कलौ।
गंगां स्नाति यो मर्त्यो यावज्जीवं दिने दिने।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते मुक्त एव सः।।
(काशी खंड - ९४/४९, २७/८८)

– कलियुग में तप्तों के लिये गंगा के समान अन्य कोई पाप-ताप नाश करनेवाला नहीं है। गंगाजी में प्रतिदिन स्नान करनेवाले को जीवन्मुक्त ही जानना चाहिये, मरणोपरान्त तो वह मुक्त है ही। ऐसी माँ गंगा के पावन जल की महिमा है। शास्त्रों ने तो यहाँ तक कहा –

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात्तथा गंगेति कीर्तनात्।
स्मरणादेव गंगायाः सद्यः पापात्प्रमुच्यते।।
जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम्।।

– गंगाजी के दर्शन-स्पर्शन करने, उनके जल के पान करने और 'गंगा' इस नाम का कीर्तन करने से नर पापों से मुक्त हो जाता है। यहाँ तक कि जो व्यक्ति गंगा-तट की मिट्टी को अपने सिर पर लगाता है, वह अपने अज्ञानतम के नाशार्थ सूर्य को अपने सिर पर धारण कर लेता है।

श्रीरामकृष्ण देव गंगावारि को ब्रह्मवारि कहते थे। वे श्रद्धापूर्वक नित्य गंगा-स्नान-पान करते थे। दक्षिणेश्वर में उनकी लीलाओं की साक्षी माँ गंगा हैं। स्वामी विवेकाननन्द जी ने बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण देव के मन्दिर की स्थापना गंगा-तट पर ही की है। श्रीमाँ सारदा देवी की भी गंगा के प्रति अपार भक्ति थी। वास्तव में जीव-दुखनाशक एवं पाप-विनाशक, लोकोद्धारक गुण तो ब्रह्म में, परमात्मा में ही है। ब्रह्म के साकार रूप श्रीविष्णु के चरण से गंगा नि:सृत होती हैं। परब्रह्म परमात्मा के श्रीचरणों से उद्भूत वारि तो ब्रह्मवारि ही है, जो निर्गुण से प्रवाहरूप सगुण होकर लोकहिताय ग्राम, नगर, जन-जन तक स्वयं पहुँचकर उद्धार कर रहा है।

महर्षि वाल्मीकि की गंगाभक्ति और प्रार्थना द्रष्टव्य है –

अभिनवबिसवल्ली पादपद्मस्य विष्णो-
मर्दन-मथनमौलेर्मालती-पुष्पमाला।
जयति जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्याः
क्षपितकलिकलंका जाह्नवी नः पुनातु।।
गागं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्।
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।।५,७।।

– जो भगवान विष्णु के पादपद्मों की अभिनव मृणाल हैं और जो अनंगारि भगवान शिव के ललाट की मालती माला हैं, उस मोक्षलक्ष्मी के विजयध्वज की जय हो ! कलि-कलंकविनाशिनी गंगा हमें पवित्र करें। श्रीमुरारि विष्णु के चरणारविन्दों से नि:सृत, शम्भु के सिर-विराजक, पापहारक मनोहर गंगा-जल मुझे पवित्र करे।

कवि रसखान ने व्रज में गोप, गाय, गिरि, पक्षी के रूप में पुनर्जन्म की इच्छा व्यक्त की थी। वाल्मीकिजी ने भी गंगा-तटवास की याचना की थी –

मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृंगारहारावलि,
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथि प्रार्थये।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिषु प्रेङ्खत-
स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः।।

– हे माँ गंगे ! मैं तुम्हारे तट वास करते हुए, तेरा जल पीकर तेरा तरंग-दर्शन करते हुए तन-त्याग करूँ।

गंगाजी ने तुलसीदास, रैदास, विद्यापति, तैलंग स्वामी आदि ज्ञात-अज्ञात कितने भक्तों पर कृपा कीं। तभी तो भगवान शंकराचार्यजी ने त्रिभुवतारिणी गंगा की शरण ली –

रोगं शोकं तापं पापं हर मे भगवति कुमतिकलापम्।
त्रिभुवनसारे वसुधाहारे त्वमसि गतिर्मम खलु संसारे।।

– हे भगवति ! तुम मेरे रोग-शोक, ताप-पाप, कुबुद्धि सबका हरण कर लो। इस संसार में तुम्हीं हमारी गति हो। ऐसी त्रिभुवनतारिणी माँ गंगा हम सबका मंगल करें।

OOO

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (६)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

निवेदिता से सम्बद्ध स्वामीजी की कविताएँ

– १ –

स्वामीजी ने प्रत्यक्ष रूप से निवेदिता के विषय में तथा उनके निमित्त दो कविताओं की रचना की थी। एक का शीर्षक था 'Benediction' अर्थात् 'आशीर्वाद' और दूसरे का 'Peace' अर्थात् 'शान्ति'। 'निवेदिता' नाम ही निवेदिता के विषय में स्वामीजी का सर्वाधिक संक्षिप्त वक्तव्य है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उनके अनेक वक्तव्यों में स्थित कौस्तुभ मणि है; और उपरोक्त दोनों कविताओं के माध्यम से उसी महा-माणिक्य की उज्ज्वल ज्योति प्रकट हो रही है। पहली कविता में है – भारत की निवेदिता; और दूसरी कविता में – नित्य सत्य की निवेदिता। पहली कविता में स्वामीजी ने एक विदेशी नारी को समग्र भारत की साधना को आत्मसात् करके भावी भारत की सेविका, गुरु तथा सहयोगिनी होने का आह्वान किया था; नहीं लगता कि किसी अन्य विदेशी को ऐसा गुरु दायित्व वहन करना पड़ा था। निवेदिता इसे करने में कितनी समर्थ हुई थीं – इसकी चरम स्वीकारोक्ति भारत के महाकवि के कण्ठ से उस समय सुनाई पड़ी थी, जब उन्होंने निवेदिता को 'लोकमाता' कहकर सम्बोधित किया था। परन्तु निवेदिता को भारत के लिये उत्सर्ग करते समय विवेकानन्द जानते थे कि यदि हृदय में उस परम अध्यात्म सत्य का आलोक निरन्तर दीप्तिमान न होता रहे, तो परिपूर्ण प्रेम तथा परिपूर्ण सेवा कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने चाहा था कि निवेदिता जब बाहर की कर्म-तरंगों के बीच रहें, उस समय शक्ति के भीतर जो शक्ति है, आलोक के भीतर जो आलोक है – उसकी अनुभूति प्राप्त करें। 'Peace' ('शान्ति') कविता में विवेकानन्द ने निवेदिता को वह द्वितीय वस्तु ही अर्पित की है।

पहले यहाँ 'Benediction' ('आशीर्वाद') कविता को ही अनुवाद सहित प्रस्तुत किया जा रहा है। इस कविता का रचनाकाल अज्ञात है।

The mother's heart, the heroes will,
The sweetness of the southern breeze,
The Sacred charm and strength that dwell
On Aryan alters flaming free :
All these be yours, and many more
No ancient soul could dream before.
Be thou to India's future son
The mistress, servant and friend in one.

माँ का हृदय, वीर की दृढ़ता,
मलय-पवन की मधुता
ज्वलन्त आर्य-वेदी की पावन,
शक्ति और मोहकता –
ये वैभव सब, अन्य और जो,
जन के स्वप्न बने हों –
तुम्हें सहज ही आज प्राप्य हों,
(निश्छल भाव सने हों।)

भारत के भावी पुत्रों की,
गूँजे तुममें वाणी
मित्र, सेविका और बनो तुम,
मंगलमय कल्याणी।

इस कविता का रचनाकाल अज्ञात होने पर भी अनुमान लगाने का प्रयास किया जा सकता है। १९०० ई. के १३ जनवरी के पत्र में निवेदिता ने स्वामीजी को एक पत्र में लिखा है, "आपके द्वारा रचित जन्मदिवस-कविता (स्वामीजी का जन्म १२ जनवरी, १८६३ को हुआ था) पिछली रात मुझे प्राप्त हुई।"

तो फिर वह कौन-सी कविता थी? इसके बाद इसी पत्र में निवेदिता ने जो कुछ लिखा है, उससे समझा जा सकता है कि स्वामीजी ने उस कविता में निवेदिता को आशीर्वाद देते हुए उनके भविष्य के विषय में कुछ अति उच्च बातें लिखी हैं। सम्भवत: उपरोक्त 'Benediction' ('आशीर्वाद') कविता ही स्वामीजी ने भेजी थी। यदि ऐसा हो, तो ऐसी स्थिति में इस कविता का रचनाकाल १९०० ई. के जनवरी माह के द्वितीय सप्ताह का होगा। निवेदिता का वह पत्र यहाँ

पूरा उद्धृत किया जा रहा है –

मेरे प्रिय पिता, आपके द्वारा रचित जन्मदिवस-कविता पिछली रात मुझे प्राप्त हुई। उसके विषय में कुछ भी कहना उसे छोटा करना होगा। केवल इतना ही कहूँगी कि यदि आपकी सुन्दर कामना सम्भव नहीं होती, तो मेरा हृदय उसे वहन नहीं कर पाता। इस विषय में मैं रामप्रसाद के इन विचारों से सहमत हूँ – 'मैं चीनी खाना चाहता हूँ, चीनी होना नहीं चाहता!' यहाँ तक कि मैं ईश्वर को किसी भी रूप में जानना नहीं चाहती; यहाँ तक कि ऐसी बातें सोचना मेरे लिए हास्यास्पद ही है, जिनसे मेरे पिता अप्राप्य नहीं रह जाएँगे!

मैं जानती हूँ कि अपने गुरु के बारे में ऐसा सोचने की जरूरत नहीं है कि ईश्वर का दर्शन होने पर गुरु विलुप्त हो जाएँगे, परन्तु ऐसे क्षण में भी इस आश्वासन के बिना मैं पूर्ण आनन्द की कल्पना नहीं कर सकती कि उनका आनन्द इससे भी महान था।

मैं असम्भव बातें व्यक्त करने की तथा अचिन्त्य विषय को सोचने की चेष्टा कर रही हूँ, परन्तु आप भलीभाँति जानते हैं कि मैं क्या कहना चाहती हूँ।

मैं सोचती थी कि मैं भारतीय नारियों के लिए कार्य करना चाहती हूँ – मेरे मन में हर तरह की भव्य कल्पनाएँ आया करती थीं, परन्तु क्रमशः मैं उन ऊँचाइयों से नीचे उतरती रही हूँ और आज मैं हर कार्य केवल अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए ही करना चाहती हूँ। यहाँ तक कि ईश्वर का ज्ञान होना भी लाभ जैसा प्रतीत होता है। इच्छा होती है कि केवल सेवा के लिए ही चिर काल तक सेवा करती रहूँ, प्रिय गुरुदेव – एक छोटे-से दुखपूर्ण जीवन के लिए नहीं।

एक अन्य विषय में भी मैं निश्चिन्त हूँ तथा सही क्षणों में निश्चिन्त रहना चाहती हूँ – और वह यह कि आनेवाले निकट भविष्य में आपकी हजारों सन्तान होंगी, जो मुझसे बड़ी तथा अधिक सुयोग्य होंगी और मेरी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक आपसे प्रेम तथा आपकी सेवा कर सकेंगी।

स्वामीजी, अब आपको स्वीकार करना होगा कि आपसे कुछ भूल हुई थी; 'अमेरिका बहुत हुआ! नहीं![१] जैक्सन में एक व्यक्ति के लिये आपका नाम पागल साँड़ के सामने लाल वस्त्र के समान था। आज वह व्यक्ति आपका और मेरा मित्र है, क्योंकि – आपकी कन्या में रसिकता का बोध भी है!!!''[२]

१. इन दिनों स्वामीजी दूसरी बार अमेरिका-यात्रा पर आये हुए थे। स्वास्थ्य तथा मानसिक उदासीनता के कारण भी, स्वामीजी ने कहा था, 'मेरा अमेरिका का कार्य समाप्त हो गया है।'

– २ –

'Peace' ('शान्ति') कविता २१ सितम्बर, १८९९ के दिन अमेरिका में लिखी गयी थी। स्वामीजी उस समय अपनी द्वितीय अमेरिका-यात्रा पर गये थे और निवेदिता भी वहाँ अपने भारतीय कार्य हेतु धन एकत्र करने के उद्देश्य से गयी हुई थीं। उन्हीं दिनों एक विशेष परिस्थिति में कविता लिखी गयी। प्रव्राजिका मुक्तिप्राणा ने इस विषय में लिखा है –

''२० सितम्बर को निवेदिता 'रिजली मैनर' (श्री लेगेट के निवास-भवन) में पहुँचीं। मि. लेगेट एक धनी व्यक्ति थे। स्वामीजी के प्रति उनकी तथा श्रीमती लेगेट की प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति थी। ... स्वामी तुरीयानन्द स्वामीजी के साथ निवास कर रहे थे। स्वामी अभेदानन्द ने भी वहाँ कुछ दिन बिताये थे। ... श्रीमती सारा बुल आयीं, साथ में उनकी पुत्री ओलिया भी थी। श्रीमती लेगेट की बहन मिस मैक्लाउड पहले से ही वहाँ निवास कर रही थीं। ...

निवेदिता के अमेरिका आने का उद्देश्य धन संग्रह करना था। कार्य में उतरने के पूर्व उनके मन में स्वामीजी का संग

२. निवेदिता अपने भारतीय कार्य के लिये धन एकत्र करने अमेरिका गयी थीं। उन्होंने पाया कि वहाँ यह कार्य अत्यन्त दुरूह है। अमेरिका उन दिनों विवेकानन्द के मित्रों तथा शत्रुओं से परिपूर्ण था। विवेकानन्द ने मिशनरियों के भारत-विषयक दुष्प्रचार का विरोध किया था, मिशनरियों ने उनके व्यक्तिगत जीवन पर आक्षेप के रूप में उसका उत्तर देने की चेष्टा की थी। साथ ही उनकी भारत के बारे में दुष्प्रचार की मात्रा भी बढ़ गयी थी। इसमें सन्देह नहीं कि मिशनरियों का संगठित प्रयास काफी मात्रा में सफल हुआ था। कहीं-कहीं स्वामीजी के नाम पर प्रचार करना भी निवेदिता के लिये कठिन हो उठा था। इन विरोधियों में से अधिकांश ही स्वामीजी को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते थे या उनके व्याख्यान नहीं सुने थे। स्वामीजी को लिखे पत्र में निवेदिता ने एक ऐसे ही व्यक्ति का उल्लेख किया है, जो मूलतः एक सज्जन तथा विनोदप्रिय व्यक्ति था। निवेदिता ने जब उसे यथार्थ सत्य का बोध कराकर उनके सुरसिक हृदय के समक्ष आवेदन करके, क्या फल पाया था, इस विषय में उन्होंने १३-१-१९०० के दिन मिस मैक्लाउड को लिखा था –

''मि. ओ'डोनेल का स्वामीजी के प्रति दृष्टिकोण – जिनका नाम उनकी उपस्थिति में नहीं लिया जाना चाहिये – और जो मिशीगन के सभी सण्डे-स्कूलों' का सुपरिंटेंडेंट थे और क्या नहीं थे? मैंने विस्मय के साथ देखा कि वे पके बालों वाले बड़े ही खुशमिजाज तथा मधुर व्यक्ति हैं, सर्वदा पलकें झपकाते हुए कुतूहल के भाव से सिर हिलाते रहते हैं। उन्होंने भले स्वभाव की 'चर्च-महिला' ही माना और मेरे वहाँ से चले आने के पूर्व हम सभी ने मिलकर रेक्टर के पास जाकर किसी रविवार के दिन स्वामीजी को वेदी पर से व्याख्यान देने के लिये अनुरोध के विषय में चर्चा की थी!!! जानती हो, चर्च-नियम के अनुसार अ-संन्यासी वेदी से प्रचार करने का अधिकार पा सकता है, जिस नियम के अनुसार रोमन तथा एपिक चर्च की दृष्टि में सैद्धान्तिक रूप से अ-संन्यासी हैं।''

करने तथा उनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त करने की इच्छा थी। उन्होंने इसके पूर्व ही निश्चय कर लिया था कि प्रारम्भ से ही आदर्श में दृढ़ प्रतिष्ठित रहने की जरूरत है।... लेगेट के विलासितापूर्ण तथा आडम्बरयुक्त घर में निवास करने के बावजूद उनका जीवन जिस विशेष आदर्शवाद द्वारा परिचालित हो रहा था, उसे स्थिर रखने के लिये चाल-चलन, वेश-भूषा में परिवर्तन की आवश्यकता थी।

'रिजली मैनर' में आगमन के बाद निवेदिता ने अपना संकल्प सुदृढ़ किया। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी हैं; उन्होंने जो व्रत स्वीकार किया है, उसका पालन ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। अगले दिन (२१ सितम्बर को) स्वामीजी के समक्ष उन्होंने तदनुसार वेश ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। आदर्श के प्रति उनका अनुराग तथा दृढ़ता देखकर स्वामीजी प्रसन्न हुए। उसी दिन शाम को भ्रमण से लौटने के बाद ही स्वामीजी ने उन्हें एक उपहार दिया। इसी कविता का शीर्षक है 'Peace' ('शान्ति')।'[३]

स्वामीजी उन दिनों जिस प्रकार के आध्यात्मिक भावावेग में स्थित थे, उसके विषय में यदि पाठक और भी विस्तार से जानना चाहते हों, तो उन्हें इसके साथ ही थोड़ी देर पूर्व उद्धृत अमेरिका से निवेदिता को लिखित उनके १८९९-१९०० के पत्रों को देख लेना चाहिये। इसके साथ ही इसी काल के स्वामीजी की भावानुभूतियों के विषय में निवेदिता के पत्र भी पठनीय हैं। निवेदिता के पत्र तथा पत्रांश थोड़ी देर बाद ही उद्धृत किये जायेंगे। –

३ इस कविता की एक प्रतिलिपि 'The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples' ग्रन्थ में दी हुई है।

Peace

Behold, it comes in might,
The power that is not power,
The light that is in darkness'
The shade in dazzling light.

It is joy that never spoke,
And grief unfelt, profound,
Immortal life unlived,
Eternal death unmourned

It is not joy nor sorrow,
But that which is between,
It is not night nor morrow,
But that which joins them in.

It is sweet rest in music;
And pause in sacred art;
The silence between speaking;
Between two fits of passion –
It is calm of heart.

It is beauty never seen,
And love that stands above,
It is song that lives unsung,
And knowledge never known.

It is death between two lives,
And lull between two storms,
The void when rose creation,
And that where it returns.

To it the tear-drop goes,
To spread the smiling form
It is the goal of life,
And Peace – its only home.

शान्ति

देखो, जो बलात् आती है,
वह शक्ति, शक्ति नहीं है!
वह प्रकाश, प्रकाश नहीं है,
जो अँधेरे के भीतर है,
और न वह छाया, छाया ही है,
जो चकाचौंध करनेवाले
प्रकाश के साथ है।
वह आनन्द है, जो कभी व्यक्त नहीं हुआ,
और अनभोगा, गहन दुःख है
अमर जीवन, जो जिया नहीं गया
और अनन्त मृत्यु, जिस पर –
किसी को शोक नहीं हुआ।
न दुःख है, न सुख,
सत्य वह है, जो इन्हें मिलाता है।
न रात है, न प्रात,
सत्य वह है, जो उन्हें जोड़ता है।
वह संगीत में मधुर विराम है,
पावन छंद के मध्य यति है,
मुखरता के मध्य मौन है,
वासनाओं के विस्फोट के बीच
वह हृदय की शान्ति है।
सुन्दरता वह है, जो देखी न जा सके।
प्रेम वह है, जो अकेला रहे।
गीत वह है, जो जीये, बिना गाये,
ज्ञान वह है, जो कभी जाना न जाय।
जो दो प्राणों के बीच मृत्यु है,
और दो तूफानों के बीच एक स्तब्धता है,
वह शून्य, जहाँ से सृष्टि आती है
और जहाँ वह लौट जाती है।
वहीं अश्रुबिन्दु का अवसान होता है,
प्रसन्न रूप को प्रस्फुटित करने को
वही जीवन का चरम लक्ष्य है,
और शान्ति ही एकमात्र आश्रय है।

(क्रमशः)
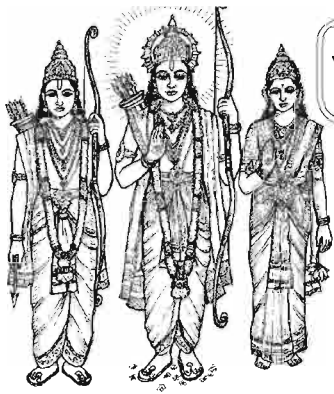
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (२/४)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

इसीलिये भगवान शंकर के सामने जब काम आता है और वे अपनी तीसरी दृष्टि खोलकर देखते हैं, तो देवता कहने लगे महाराज, इसे तीसरी दृष्टि से क्यों देख रहे हैं? उन्होंने कहा, इसका रूप-रंग देखकर भ्रम हो रहा है, यह हमारे प्रभु से मिलता-जुलता दिखाई दे रहा है, देखें, असली है कि नकली। उस दृष्टि के खुलते ही वह भस्म हो गया। पर आनन्द तब आया, जब भगवान राम दुलहे के वेष में जा रहे थे, तो तुलसीदासजी ने कहा कि काम घोड़ा बनकर भगवान राम की सेवा में आ गया –

जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिजु । १/३१५/छन्द

श्रीराम अश्व पर आरूढ़ हैं। और शकंर जी देखने आए।

संकरु राम रूप अनुरागे। १/३१६/२

शंकरजी को देखकर मानो काम को हँसी आ गई। महाराज, आज भी खोलिए न तीसरा नेत्र? आज आपको क्या हो गया? आज आप कितने बदल गये हैं? भगवान शंकर ने कहा, तुम कितने बदल गये हो, यह तो देखो? अब तक तुम दूसरों पर सवारी करते रहे, आज राम तुम पर सवार हैं। अब राम से अलग होओ, तब तुम्हें पता चले। अलग हो जाओगे, तब तो तुम भस्म हुए बिना नहीं रहोगे। इसका मानो सांकेतिक तात्पर्य यह है कि जहाँ पर संध्या की वृत्ति काम की दिशा में गई, वह संध्या जीवन को राम से दूर कर देती है। मिथिला की संध्या की तो बात ही क्या है? श्रीराम-सीता का विवाह हुआ, वह भी संधिवेला में हुआ –

धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल।। १/३१२

मानो भक्तों ने एक नई संधि वेला बना ली। क्या? बोले रात्रि श्याम और दिन उज्ज्वल, विवाह के लिये सर्वश्रेष्ठ क्षण यही है कि श्यामता रात्रि की न रहकर राम की श्यामता बन जाय और उज्वलता श्रीसीताजी का गौरवर्ण बन जाय। इस दिव्य संध्या में जहाँ पर भक्ति और भगवान का मिलन होता है, श्रीसीताजी और श्रीराम का मिलन होता है, वह तो आनन्द की पराकाष्ठा है। वह संध्या जब किसी व्यक्ति के जीवन में आ जाती है, तब वह परिपूर्ण हो जाता है, धन्य हो जाता है। मानो हमारे आपके जीवन में यह जो संधि है, अगर हम गहराई से विचार करके देखें, तो हम कई बार ऐसी स्थिति में होते हैं कि यह प्रश्न आता है कि यह करें कि यह करें, यह उचित है कि यह उचित है? यह द्वन्द्व जब कभी आवे, तो बहुत सावधानी की आवश्यकता है। अब थोड़ा दूर चलें, किन्तु किधर जाएँ? यह सोचना चाहिये।

जय और विजय संधि की दहलीज स्थल पर थे, किन्तु सावधान नहीं थे। कैसे? चार महात्मा दर्शन करने के लिये आए। वे महात्मा जब दर्शन करने आए, तो जय और विजय पर दृष्टि नहीं डाली। वे सीधे भीतर प्रविष्ट होने लगे। तब जय और विजय को अपमान लगा कि मुझसे पूछे बिना ये जा रहे हैं। उन लोगों ने उनसे तर्क-वितर्क किया – हम क्यों खड़े किए गये हैं यहाँ? अगर हम द्वारपाल हैं, तो क्या आपका यह कर्तव्य नहीं है कि आप हमसे पूछकर भीतर जाएँ? आप आए और सीधे भीतर चले जा रहे हैं। वे कह तो यह रहे थे कि आपने मर्यादा का उल्लंघन किया है। किन्तु सत्य तो यह था कि उनके मन में अहं वृत्ति उत्पन्न हुई कि वे भी कम नहीं हैं। जब शिष्य के मन में गुरु से होड़ की भावना आ जाय, गुरु से ईर्ष्या उसके मन में उत्पन्न हो, जब जीव ईश्वर से इस रूप में ईर्ष्या करने लगे, तो उसकी अधोगति होती है। शास्त्र कहते हैं कि वैकुण्ठ में जितने व्यक्ति हैं, उन सब का रूप भगवान के जैसा ही होता है। सब चतुर्भुज होते हैं, सब श्याम वर्ण के होते हैं। अब जय-विजय को यह लगने लगा कि क्या हम उनसे कम हैं, जिनका ये दर्शन करने जा रहे हैं? ये हमको क्यों नहीं देख लेते? बस यह वृत्ति जहाँ आई, हम उनसे कम

हैं क्या? जिसे देखो, सब उधर ही चले जाते हैं। हम यहाँ खड़े हुए हैं, कोई हमारी ओर देखता ही नहीं, हमें कोई महत्व ही नहीं देना चाहता। इसका अभिप्राय यह है कि इतनी ऊँचाई तक उठने के बाद भी जीव का वैकुण्ठ मानो सालोक्य, सारूप्य नित्य भगवान का इतना सान्निध्य प्राप्त होने के बाद भी यह ईर्ष्या का रोग, यह असूया की वृत्ति इतनी व्यापक है कि वहाँ तक पीछा नहीं छोड़ती। जब यह वृत्ति आती है, तो उसमें संकेत यह है कि सोचना चाहिये कि भगवान जैसे दिखाई देने पर भी स्वभाव भगवान के जैसा है क्या? भगवान तो भक्तों के लिये बड़े उदार हैं। वे द्वारपाल इसलिये थोड़े ही रखते हैं कि जो आवें, उन्हें रोक दो। पहले हमसे पूछ लो, तब ले आओ। वे द्वार पर सेवकों को इसलिये नियुक्त करते हैं कि भक्तों के आते ही उन्हें स्वागत करके आदरपूर्वक तुरन्त ले आओ। जिनका कार्य भगवान से मिलाना है, उन्हीं में ईर्ष्या वृत्ति आ गई, असूयावृत्ति आ गई। यही जीव के पतन का कारण बना। तब वही सूत्र है कि देहरी पर खड़े हैं। एक पग भीतर रखा, तो वैकुण्ठ में और एक पग बाहर रख दिया, तो वैकुण्ठ से बाहर हो गये। उस संसार में आ गये, जो कुण्ठाओं से भरा हुआ है। उसका अभिप्राय यही है। सर्वत्र सूत्र यही है। चाहे कश्यप ऋषि कहें, चाहे भगवान कहें या चाहे यहाँ पर विश्रवा मुनि। मूल तत्त्व शुद्धतत्त्व है, परम कल्याणमय है। पर जब हमारे अन्त:करण में कुमति आ जाती है, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हमारे जीवन में दुर्गुणों का, दुर्विचार का जन्म होता है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि ये जो दुर्गुण और सद्गुण हैं, जो हमारे-आपके अन्त:करण में ही रहते हैं और ये भाई हैं, पर क्या सचमुच ये सहोदर भाई के रूप में रहते हैं? यदि हम पिता पर दृष्टि न डालें और केवल माता की भिन्नता पर दृष्टि डालें और विचार करें तो उसका अन्तर स्पष्ट हो जायगा। यही संकेत देता है कि सुमति से जन्म होता है विभीषण का और कुमति से रावण और कुम्भकर्ण का। ये सुमति और कुमति हैं, दोनों हमारे भीतर ही रहते हैं। जब भगवान समझ गये कि चारों महात्मा राजमहल में आ रहे हैं। यहाँ भी द्वारपाल हैं। कहीं फिर से वही भूल न दोहराई जाय, कहीं कोई उनको रोक न दे, इसलिए किसी ऐसे स्थान में उनसे मिलेंगे, जहाँ कोई द्वारपाल न हो। इसलिये वाटिका में बैठ गये। वाटिका मानो संतों का ही प्रतीक है। भगवान कहाँ रहते हैं? उनको तो संत समाज में ही रहना प्रिय है। भगवान ने चारों महात्माओं को देखते ही साष्टांग प्रणाम किया –

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह।। ७/३२

बस, यही तो अन्तर था उनमें और जय-विजय में। भगवान राम ने मुनियों को ज्योंही देखा, उन्हें प्रसन्नता से प्रणाम किया, उनका स्वागत किया। एक नया कार्य प्रभु ने किया। यदि ये महात्मा राजमहल में आए होते, तो उन्हें वाघाम्बर पर बैठाते, सिंहासन पर बैठाते, किन्तु यहाँ पर तो आसन था ही नहीं। प्रभु ने कितना बढ़िया अद्‌भुत आसन पर उन्हें बैठाया ! वे जो पीताम्बर ओढ़े हुए थे, उसे ही उतार कर बिछा दिया।

भगवान से कोई पूछ दे कि वैसे तो आप सदा पीताम्बर धारण किये रहते हैं, किन्तु इन चारों महात्माओं को देखकर आपने पीताम्बर क्यों हटा लिया? बोले – संसार के लोग मेरे सामने आते हैं, तो कपड़ा पहनकर ही आते हैं, स्वयं को ढँककर आते हैं। कोई-न-कोई नकली वेश बनाकर ही आते हैं। इसलिये मुझे भी माया का आवरण ओढ़े ही रहना पड़ता है। लेकिन जब ये महात्मा आ गये, तो वे स्वयं भी वैसे हो गये –

समदरसी मुनि बिगत बिभेदा। ७/३१/५

वह अद्भुत संवाद हुआ। तीनों भाई सुन रहे थे। हनुमान जी भी थे। वे लोग वरदान प्राप्त करके चले गये। उसके पश्चात् श्रीभरत के मन में इच्छा हुई कि जिन संतों को प्रभु इतना सम्मान देते हैं, उनके लक्षण तो सुनें। पर वे बड़े संकोची हैं।

श्रीभरत के चरित्र को रामायण में इतना महत्त्व क्यों दिया गया, उसका सूत्र आपको यहाँ मिल जायगा। श्रीभरत भगवान राम के सामने संकोच के कारण बोलना तो दूर, आँख उठाकर उनकी ओर देखने का भी साहस नहीं कर पाते। हनुमानजी की ओर देख रहे हैं, आप पूछ दीजिये न! हनुमानजी ने तुरन्त प्रभु को प्रणाम किया। प्रभु ने पूछा, हनुमान ! कुछ पूछना चाहते हो क्या? बोले नहीं महाराज, मैं नहीं पूछना चाहता। तब? बोले –

नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं।
प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं।। ७/३५/६

भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं। भगवान ने कहा – पूछना वे चाहते हैं, बोल तुम रहे हो? बोले – वे संकोच कर रहे हैं। तब भगवान ने एक वाक्य कहकर हनुमानजी और भरतजी दोनों को अद्वितीय स्थान दे दिया। उन्होंने हनुमानजी से कहा –

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। ७/३५/७

हनुमान, तुम मेरा स्वभाव जानते हो। बस, यह प्रमाण पत्र भगवान से मिलना अत्यन्त कठिन है। भगवान का प्रभाव जानने वाले बहुत हैं, भगवान का विधान जानने वाले भी बहुत हैं, पर भगवान का स्वभाव जानना तो अत्यन्त कठिन है। इसका अभिप्राय है कि किसी व्यक्ति का नाम सुने, उसकी कोई रचना पढ़े, उसके विषय में सुने, तो आपको उसके प्रभाव का परिचय मिलता है। पर स्वभाव का परिचय तो तब मिलता है, जब आप उसके अत्यन्त अंतरंग हो जायें। पर प्रभु ने कहा कि हनुमान ! तुम तो मेरे स्वभाव को जानते हो। अगला वाक्य प्रभु ने कहा –

भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ।। ७/३५/७

क्या भरत और मुझमें कोई रंचमात्र भेद है? भगवान राम और भरत देखने में भी रूप-रंग में एक जैसे हैं। दोनों को देखकर पहचानना कठिन होता है कि राम कौन हैं और भरत कौन हैं?। प्रभु ने यही कहा कि मुझमें और भरत में कोई भिन्नता नहीं है। अब इसको यदि तात्त्विक संदर्भ में, वेदान्त की दृष्टि से विचार करके देखें, तो वहाँ वर्णन यही किया गया है कि ब्रह्म और जीव तो वस्तुत: तत्त्वत: एक ही हैं। दोनों में रंचमात्र कोई भेद नहीं है। तो भेद स्वीकार करें कि अभेद स्वीकार करें? क्या मानें? प्रभु तो कह रहे हैं कि भरत मुझसे अभिन्न हैं। यह कहने के बाद प्रभु ने श्रीभरत की ओर देखकर उनसे कहा – भरत ! संकोच की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे मन में यदि कोई संशय है, कोई भ्रम है, तो बताओ, मैं उसका समाधान करुँगा। उस समय भरतजी ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जो उनके मुख से कभी किसी को सुनने को नहीं मिलती थी। श्रीभरतजी ने यह कहा – प्रभु, संशय और भ्रम मुझमें? जाग्रत की बात क्या है, स्वप्न में भी मेरे जीवन में कोई संशय, कोई मोह, कोई भ्रम नहीं है। क्या ये वही भरत हैं, जो कहा करते थे –

मोहि समान को पाप निवासू।
जेहि लगि सीय राम बनबासू।। २/१७८/३

मेरे जैसा कोई पापी नहीं, जिसके कारण श्रीसीता-रामजी का बनवास हुआ, ऐसा कहने वाला आज कह रहा है –

नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह। ७/३६

प्रभु मुस्कराए। चलो, आज तो वेदान्त की भाषा बोला भरत। लेकिन आगे भरतजी ने उसे मोड़ दिया। भरतजी ने जब यह कहा, तो इसका तात्पर्य यह था – प्रभु आप जब अपने श्रीमुख से कह रहें है कि भरत में और मुझमें कोई भेद नहीं है, अभिन्न हैं और अगर मैं कहूँगा कि मुझमें शोक, मोह, संदेह है, तब उसे आपमें भी मान लिया जायेगा, इससे तो आपका अपमान होगा। लेकिन तदनन्तर एक वाक्य जोड़ दिया। क्या? बोले – साधना का तत्त्व सर्वदा यह है, जो बात कल आपके सामने कही गई थी। वैसे तो आज सभी ग्रंथ सुलभ हैं, सभी प्रकार के प्रवचन सुलभ हैं, ठीक है। लेकिन इतना होते हुए भी जिसका जो अधिकार है, वही मानकर चलना उसके लिये उपयोगी है, यह बात जब तक साधक नहीं समझ लेता, तब तक उसके पतन की आशंका सदा बनी रहेगी। वह तत्त्वत: अभिन्न इस बात को बुरा-से-बुरा व्यक्ति भी दुहरा सकता है। कितना सरल-सा वाक्य है। एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें कहा गया –

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभि: ।

यह दावा किया गया कि करोड़ों ग्रन्थों में जो कहा गया है, उसे आधे श्लोक में मैं कह रहा हूँ। क्या? उन्होंने कहा, बस एक वाक्य है – **जीवो ब्रह्मैव ना पर:** – जीव साक्षात् ब्रह्म है, उससे भिन्न नहीं है। अब लीजिए, करोड़ों, ग्रन्थ पढ़ने की क्या आवश्यकता है? एक वाक्य आ गया और उस वाक्य को सरलता से दुहरा सकते हैं। पर उस शब्द को दुहरा देने के बाद भी सचमुच उसकी अनुभूति हो रही है क्या? **(क्रमश:)**

सारगाछी की स्मृतियाँ (५६)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

प्रश्न – तब क्या हम समाज की उपेक्षा करते हुए चलेंगे?

महाराज – यूरोप के ग्रीस (यूनान) देश में एक ऐसे लोग थे, जो मनुष्यों में बुराई देखते-देखते मैन हेटर – मानव-द्वेषी हो गए। उनमें कोई उदात्त दर्शन नहीं था, केवल बाह्य दृष्टि थी। वहाँ एक व्यक्ति था, जो हमेशा हाथ में लालटेन लेकर घूमता रहता था। किसी व्यक्ति को देखते ही वह लालटेन उठाकर देखता कि उसके भीतर मनुष्यत्व है कि नहीं। वह देखता कि किसी में मानवीय सत्ता, मानवता नहीं है। लोग उसे पागल समझते। किन्तु हम लोगों का एक दर्शन है। हम जानते हैं कि मनुष्य में दो सत्ताएँ हैं – पहली रूप सत्ता और दूसरी सनातन सत्ता। मनुष्य के रूप में परिवर्तन होता है – रूप अच्छा होता है, खराब होता है, किन्तु उसकी सनातन सत्ता, दिव्यता चिरकाल तक समान रूप से जगमगाती रहती है। इसीलिए हम लोग किसी से घृणा नहीं कर सकते। अत: हमलोग समाज की उपेक्षा क्यों करेंगे? सामान्य लोगों की तो बात ही मत करो। वे किसी वस्तु को किसी भी स्तर पर गिरा सकते हैं।

प्रश्न – भगवान संसार में क्यों नहीं दीखते हैं?

महाराज – वे संसार में कैसे रहते हैं सुनो। लीला तीन प्रकार की होती है – **१. सृष्टि लीला** – ब्रह्म स्वयं जीव-जगत बनकर लीला करते हैं, वे पूर्णत: आत्मविस्मृत मायाधीन हो, अपने पूर्व कर्मफल से संसार-भोग करते हैं। समष्टि सत्ता से प्रार्थना कर जीव स्व-स्वरूप में लौट सकता है। **२. नरलीला** – अवतार पुरुष कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य, श्रीरामकृष्ण के रूप में रहते हैं **३. नित्य लीला** – आनन्दमय कोश में अवस्थान। चिन्मय श्याम, चिन्मय धाम, नित्य वृन्दावन ! ब्रह्म मानो उंगली बनकर अपनी देह को देख रहे हैं। स्वामीजी (विवेकानन्द) अखण्ड में अपने अस्तित्व को बनाए रखकर अखण्ड के साथ आनन्द कर रहे हैं।

स्वामी प्रेमेशानन्द

वैष्णव ग्रंथों में वर्णन है कि श्रीराधिका सहस्रधारा-कलश को सिर पर रखकर चल रही हैं। उनका अनुकरण करते हुए वैष्णवी परकीय प्रेम की नकल करने लगीं। देखो न, मूर्खों के हाथों में पड़ जाने से महान चीजों की क्या दशा हो जाती है !

(४५)

२८-११-१९६०

प्रश्न – ठाकुर हमेशा 'माँ की इच्छा' 'माँ करा रही हैं' आदि कहते थे। हम लोग भी प्राय: 'ठाकुर की इच्छा' कहते रहते हैं। इसमें क्या अन्तर है?

महाराज – ठाकुर कहते थे – 'उनकी इच्छा से चल रहा हूँ,' 'वे करा रही हैं, कहला रही हैं।' यह बात वे ही कह सकते हैं, हम लोग नहीं कह सकते। क्योंकि ठाकुर स्वयं निर्गुण ब्रह्म हैं। उन्होंने 'रामकृष्ण' नामक शरीर बनाकर उसके द्वारा अपना संदेश दिया। उनका कोई पूर्वजन्म-संस्कार नहीं है। किन्तु हम लोग जो कुछ करते हैं, वह पूर्वजन्म, पूर्व कर्मफल से करते हैं। इसीलिए हम ऐसा कैसे कहें कि ईश्वरेच्छा से मेरा ऐसा हो गया। यह सब मेरे कर्मफल से ही हुआ है।

पूर्व कर्मों के फलस्वरूप मेरी ईश्वर में रति-मति होती है, सम्भवत: कोई संयोग बन जाता है। सब कुछ पूर्व कर्मों के फल से ही होता है। तेंतुलिया का एक बालक बहरमपुर में स्वामी श्रद्धानन्द जी का प्रवचन सुनते ही आकर्षण का अनुभव करने लगा ! किन्तु और भी तो हजारों लोग थे, कोई भी तो आकर्षण का अनुभव नहीं कर सका। एक कुम्हार, एक किसान के लड़के ने आकर्षण का अनुभव किया, यह सब उसके कर्मफल से ही हुआ। शुद्ध चित्त (आत्म) दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। किसी-किसी का

देखा जाता है कि प्रारम्भिक जीवन खराब था, किन्तु परवर्ती जीवन अच्छा हो गया। सम्भवत: वह योगभ्रष्ट था, किसी पाप के कारण कष्ट पा रहा था, उस पाप के कट जाते ही पूर्व संस्कार सिर पर सवार हो गया। जैसे बिल्वमंगल था। किन्तु देखने की बात यह है कि जब वह वेश्या के संग रहा, तब भी उसकी एकाग्रता नष्ट नहीं हुई। मन की कलुषता नष्ट होते ही ज्ञानसूर्य उदित हो जाता है। इसमें समष्टि परमात्मा की कृपा कहाँ है? मेरे पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ही तो सब संयोग बना। फिर भी सर्वदा समष्टि परमात्मा के निकट प्रार्थना करते रहना चाहिए, जिससे चित्त शुद्ध हो जाय और मैं निष्काम भाव से कर्म कर सकूँ। क्योंकि अनन्त काल तक कर्म करके भी कर्म का क्षय नहीं होगा, केवल ईश्वर-चिन्तन से, शुद्धतम वस्तु के चिन्तन से मन शुद्ध होगा। तब सत्य प्रतिभासित होगा। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ...' ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है। जो भक्त यह सब जानता है, वह 'ईश्वर की इच्छा' कह सकता है । यह सोचकर कि एक दिन मैं भी सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन करूँगा एवं अनुभव करूँगा कि सब कुछ उन्हीं एक ईश्वर की इच्छा से हो रहा है – यह भी एक प्रकार की साधना है। हम लोग सदा 'सोऽहम्' अवस्था में नहीं रह सकते, इसीलिए शिवज्ञान से जीवसेवा द्वारा सम्पूर्ण विश्व का अनुभव करते हैं।

प्रश्न – श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लिखित विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं?

महाराज – अकर्म संन्यासी के उच्च आदर्श के प्रतिकूल है। जैसे किसी प्रियजन के घर-परिवार को अपना समझना। जिस कर्म में संन्यासी का कोई उच्च आदर्श नहीं होता, वह विकर्म है, जिसे करने से विशेष हानि हो सकती है। जैसे – स्त्रियों और गृहस्थों से बहुत मिलना-जुलना।

३०-११-१९६०

प्रश्न – आश्रम में संन्यासियों को कैसा व्यवहार करना चाहिए?

महाराज – संन्यासियों के आश्रम में साधारणतया दो व्यक्ति प्रमुख होते हैं – एक प्रबंधक और दूसरे महन्त। महन्त केवल धर्म-चर्चा, सत्संग करते हैं और उदासीनवत काम-काज देखते रहते हैं। प्रबन्धक ही प्रशासनिक व्यवस्था देखते हैं।

कोई नया कार्य करते समय उसे प्राणपण से करते हुये यह सोचना – मैं भगवान का सेवक हूँ, उन्होंने यह सेवा का सुअवसर मुझे प्रदान किया है। पहले एक मास तक सब कुछ निरीक्षण करना। उसके बाद जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य है, उसके ऊपर उस कार्य का सम्पूर्ण भार दे देना। तुम्हारे साथ सेवा करनावाले साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण और उनके विकास का ध्यान रखना। उनके साथ हमेशा मिल-जुल कर धर्मचर्चा करना तथा अन्त में बारम्बार प्रैक्टिकल वेदान्त (व्यावहारिक वेदान्त) का पाठ करना। ऐसा करना, जिससे कर्मोन्माद में शरीर और मन खराब न हो।

प्रश्न – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च', इसका क्या अर्थ है?

महाराज – 'मेरा वास्तविक उद्देश्य 'आत्मनो मोक्षार्थं' – आत्ममुक्ति है। यदि कोई सच्चे भाव से इस प्रकार रहे, तो वह व्यक्ति चाहे जो भी कर्म क्यों न करे, उसके कर्म से संसार का कल्याण निश्चित रूप से होगा। संन्यासी स्वयं कोई कर्म आरम्भ नहीं करेगा। गुरु जो कार्य करने का आदेश देते हैं, वह केवल वही कार्य करेगा। संघ का आदेश स्वामीजी का ही आदेश है। हाँ, देश की तमसाच्छन्न अवस्था को देखकर अपने से कोई कार्य करने पर जगत का कल्याण हो सकता है, किन्तु संन्यास का उच्च आदर्श अथवा स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – यह उच्च भाव उसमें नहीं है। यह थोड़ा सामाजिक सेवा जैसा हुआ।

उपासना के बिना मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। ज्ञान-विचार के बिना मन सूक्ष्म नहीं होता। ध्यान के बिना सूक्ष्म विषय की धारणा नहीं होती। कर्म नही करने से प्रत्याहार नहीं होता। कर्म करते-करते, 'दुख-दोषानुदर्शनम्' होते-होते विवेक-वैराग्य का उदय होता है। **(क्रमशः)**

वासना का चिह्न मात्र भी रह जाने पर भगवान प्राप्त नहीं होते । धागे में यदि थोड़ी-सी भी गाँठ पड़ी हो, तो सुई के छेद में नहीं डाला जा सकता । मन जब वासनारहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है ।

– श्रीरामकृष्ण परमहंस

रामकृष्ण संघ के चार चरण

स्वामी इष्टप्रेमानन्द

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सोसायटी, जमशेदपुर

(गतांक से आगे)

६. द्वितीय चरण में सेवा-कार्य का निरीक्षण (१९०६-१९३६)

द्वितीय चरण की अवधि में कुल ७३ केन्द्रों की स्थापना हो चुकी थी। वृन्दावन सेवाश्रम, सेवा प्रतिष्ठान कोलकाता, लखनऊ तथा दिल्ली आदि प्रारम्भ हुए थे। शैक्षणिक संस्थाओं जैसे कोलकाता स्टुडण्ट होम, देवघर आवासीय विद्यालय, चेरापुंजी, जमशेदपुर आदि आदिवासी क्षेत्रों में अनेकों केन्द्रों की स्थापना हो चुकी थी। मद्रास, त्रिचुर तथा अमेरिका आदि से लगभग चार पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं। इसके साथ ही अँग्रेजी, बंगला, कन्नड़, हिन्दी आदि देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं में संघ के साहित्यों का प्रकाशन होने लगा।

जयरामबाटी तथा बेलूड़ मठ में श्रीमाँ, स्वामीजी तथा स्वामी ब्रह्मानन्द जी के मन्दिरों की स्थापना हुई। प्रधान कार्यालय बेलूड़ मठ ने बाढ़, सूखा, प्लेग आदि राहत कार्यों में बहुत से रुपये खर्च किये।

७. अमूल्य क्षति – आन्दोलन के द्वितीयचरण (१९०६-१९३६) को विकास की दृष्टि से भावधारा का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, किन्तु यह काल पहली पीढ़ी के नायकों के शरीर-त्याग का साक्षी रहा है।

रामकृष्ण संघ की संघ-जननी, मार्गदर्शिका, आध्यात्मिक प्रेरणास्रोत श्रीमाँ सारदा देवी २१ जुलाई, १९२० ई. में महासमाधि में लीन हो गयीं। संघ के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द जी १९२२ ई. में, बेलूड़ मठ के प्रथम व्यवस्थापक स्वामी प्रेमानन्द ३० जुलाई, १९१८ ई. में, त्याग और तपस्या के अद्भुत दृष्टान्त स्वरूप स्वामी अद्भुतानन्द १९२० ई. में, अद्वैत वेदान्त के मूर्तिमान स्वरूप स्वामी तुरीयानन्द २१ जुलाई, १९२२ ई. में, गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के जीवन्त उदाहरण स्वामी सारदानन्द १९२७ ई. में, देश-विदेश में भावधारा को आगे बढ़ानेवाले स्वामी शिवानन्द १९३४ ई. में, दक्षिण भारत में भावधारा के अग्रणी स्वामी रामकृष्णानन्द २१ अगस्त में, १९११ ई. में, स्वामीजी के कार्य में मन-प्राण समर्पित स्वामी त्रिगुणातीतानन्द १९१५ ई. में, स्वामी अद्वैतानन्द १९०९ ई. में और स्वामी सुबोधानन्द १९३२ ई. में महासमाधि में लीन हो गये। गिरीश घोष, मास्टर महाशय (श्रीम), चुन्नीलाल बसु तथा अनेक गृहस्थ-भक्तों के देहावसान से भावधारा को अवर्णनीय क्षति पहुँची।

रामकृष्ण भावधारा का तृतीय चरण (१९३६-१९५०)

गत १०० वर्षों में अनेक हितकारी कार्यों, मानवीय सौहार्दता और सार्वभौमिक आदर्श के लिए भावधारा को जो प्रतिष्ठा मिली है, वह प्रशंसनीय है। १९३६ के विवरणानुसार तब तक ५० मिशन तथा ५९ मठों की स्थापना, इसकी उपलब्धि को स्वयं ही सिद्ध करता है।

१. श्रीरामकृष्ण जन्मशताब्दी समारोह

श्रीरामकृष्ण का जन्मशताब्दी समारोह इस चरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। स्वामी गम्भीरानन्द जी लिखते हैं, ''कामारपुकुर के सुदूर ग्राम में हुए उनके जन्म को मात्र एक शताब्दी हुई और इतने अल्प समय में समस्त विश्व के घर-घर में उनकी पूजा हो रही है। यह उपयुक्त अवसर है कि विश्वव्यापी कल्याण हेतु उनके सन्देशों के प्रचार-प्रसार में हम भी भागी बनें।'' एक वर्ष तक चलनेवाले इस समारोह का शुभारम्भ २४ फरवरी, १९३६ को बेलूड़ मठ में तथा समापन २१ मार्च, १९३७ को हुआ। इस कार्यक्रम को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए एक समिति गठित हुई, जिसके सदस्य स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अभेदानन्द, देश-विदेश के अनेक गणमान्य व्यक्ति – रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जगदीश चन्द्र बोस, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. एस. राधाकृष्णन्, रोमाँ रोला आदि थे। इस समिति के सचिव स्वामी शुद्धानन्द थे।

इस समारोह में देश-विदेश में विभिन्न कार्यक्रम – शोभायात्रा, प्रदर्शनी, पत्रिका-विशेषांक, विद्यालयीन तथा महाविद्यालयीन भाषण प्रतियोगिता आदि आयोजित हुए।

समापन समारोह का आरम्भ १ मार्च, १९३७ को हुआ। ८ दिनों तक चलनेवाले इस उत्सव में अन्तर्राष्ट्रीय धर्म-महासभा आयोजित हुई, जिसमें देश-विदेश के बहुत

से विशिष्ट व्यक्ति आमन्त्रित हुए। १५ अधिवेशनों में कुल ११० प्रपत्र पढ़े गये, जो अब 'The Religion of the World' शीर्षक से पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। इस अधिवेशन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है तीनों भागों में 'The Cultural Heritage of India' नामक पुस्तक का विमोचन।

२. प्राइवेट केन्द्रों का पंजीकरण और नये केन्द्रों का शुभारम्भ – संघ के बहुत-से आश्रमों के इतिहास का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि इनका आरम्भ किसी साधु या गृहस्थ-भक्तों के प्रयास से हुआ है। बाद में रामकृष्ण-भावधारा के आदर्शों का पालन करते हुए धीरे-धीरे वे विकसित होने लगे। रामकृष्ण मठ-मिशन के संचालकों द्वारा उन आश्रमों की गतिविधियों का दीर्घ काल तक अवलोकन करने के बाद उन्हें संघ में सम्मिलित कर लिया गया, विशेषकर जनजातीय बहुल क्षेत्रों में स्थापित केन्द्रों को जैसे शिलांग, चेरापुंजी, जलपाईगुड़ी, गुवाहाटी इत्यादि।

इन केन्द्रों के अतिरिक्त कुछ केन्द्र सीधे संघ के तत्त्वावधान में शुरू हुये। जैसे कराची, विशाखापत्तनम्, टी.बी. सेनोटोरियम, राँची, इस्टिट्यूट आफ कल्चर आदि।

३. श्रीरामकृष्ण से सम्बन्धित स्थानों का अधिग्रहण – श्रीरामकृष्ण देव के लीला-स्थलों से सम्बन्धित स्थानों – जैसे उनकी जन्मभूमि कामारपुकुर, काँकुड़गाछी, काशीपुर का अधिग्रहण आवश्यक था। काँकुड़गाछी योगोद्यान में श्रीरामकृष्ण देव कई बार गये थे। उनकी महासमाधि के बाद भस्मावशेषों के कुछ अंश वहाँ स्थापित कर १९३१ में मन्दिर का निर्माण किया गया था। बाद में गृहस्वामी रामचन्द्र दत्त ने वह पूरा स्थान रामकृष्ण संघ को दे दिया।

श्रीरामकृष्ण देव ने काशीपुर में अपने जीवन का अन्तिम समय व्यतीत किया। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को भविष्य में होने वाले कार्यों का नेतृत्व करने को कहा और अनेक शिष्यों को दीक्षा भी दी। स्वामीजी के मतानुसार काशीपुर ही संघ का प्रथम मठ है। अत: यहाँ से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु रामकृष्ण संघ की ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिये इसके आधे भाग को १९४६ में और शेष आधे भाग को १९४९ में खरीदा गया। श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि कामारपुकुर का अधिग्रहण १९४७ में किया गया।

४. बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण देव का मन्दिर – श्रीरामकृष्ण देव के पवित्र भस्मावशेषों को सुरक्षित रखकर वहाँ एक भव्य मन्दिर बने, ऐसी स्वामीजी की हार्दिक आकांक्षा थी। यद्यपि मन्दिर स्थापित होने तक स्वामीजी भौतिक शरीर में नहीं रहे। परन्तु उन्होंने अपने भारत-भ्रमण के समय भारतीय स्थापत्य कला का निरीक्षण किया था। उसके आधार पर उन्होंने मन्दिर की रूप-रेखा बनाकर स्वामी विज्ञानानन्द महाराज को दी और कुछ आवश्यक निर्देश भी दिए।
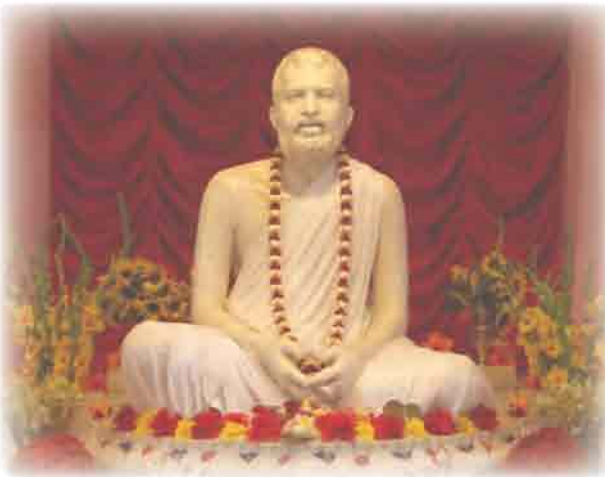
१९२२ ई. में स्वामी शिवानन्दजी ने मन्दिर की आधारशिला रखी, किन्तु शीघ्र मन्दिर का निर्माण-कार्य शुरू न हो सका। बाद में मन्दिर के स्थान में थोड़ा परिवर्तन कर स्वामी विज्ञानानन्दजी ने १९३५ ई. गुरूपूर्णिमा को निर्धारित स्थान पर ताम्रफलक की स्थापना कर १० मार्च से मन्दिर निर्माण-कार्य का श्रीगणेश किया। निर्माण-कार्य पूरा होने पर १४ जनवरी, १९३८ ई. मकर संक्रान्ति के दिन ब्राह्ममुहूर्त में मन्दिर के गर्भगृह में श्रीरामकृष्ण की संगमरमर मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने देखा कि स्वामीजी, स्वामी ब्रह्मानन्द आदि गुरुभाइयों के साथ सूक्ष्म शरीर से ऊपर से मन्दिर-प्रतिष्ठा देख रहे हैं।

मन्दिर विवरण – बेलूड़ मठ का यह मन्दिर १५२ फीट लम्बा, ७२ फीट चौड़ा, ११२ फीट ऊँचा और ४८ फीट प्रार्थना-गृह युक्त मन्दिर की कुल लम्बाई (उत्तर से दक्षिण) २३८ फीट है। कोलकाता के सुप्रसिद्ध शिल्पी जी. पाल द्वारा इटालियन संगमरमर पत्थर पर अंकित सहस्त्रदल कमल पर बैठे हुये श्रीरामकृष्ण देव की प्रतिमा सुप्रसिद्ध चित्रकार नन्दलाल बोस द्वारा निर्मित वेदी पर स्थापित की गयी। मन्दिर के चारों ओर नवग्रह देवताओं की मूर्ति, पूर्वी और पश्चिमी स्थापत्य कलाओं के समन्वय से निर्मित मुख्य द्वार पर संघ-आदर्श के प्रतीक-चिह्न भी हैं। श्रीरामकृष्ण देव का मन्दिर सर्वधर्मों और सर्वयोग के समन्वय की ओर

अनायास ही सबकी दृष्टि आकर्षित करता है। सब धर्मों और सभी तीर्थों के समावेश से बेलूड़ मठ सर्वधर्मावलम्बियों के लिए आज एक परम पवित्र तीर्थ क्षेत्र बन गया है।

५. कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की स्थापना – १९३६-५० के बीच में संघ के कुछ केन्द्रों ने अद्भुत सेवाकार्य किए और बहुत प्रसिद्ध हुए। १९३२ में शिशुमंगल नामक रामकृष्ण मिशन सेवा-प्रतिष्ठान आज संघ और पश्चिम बंगाल का सबसे बड़ा प्राइवेट अस्पताल है।

भारत में स्वतन्त्रता के पूर्व टी.बी. रोगियों की संख्या में अचानक वृद्धि हो गई थी। १९३७ ई. में स्थापित राँची के टी.बी. सेनीटोरियम ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किए। शिक्षा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन, मद्रास द्वारा अधिग्रहित सारदा विद्यालय, विवेकानन्द कॉलेज, मद्रास आवासीय विद्यालय और बाल अन्ध संस्थान नरेन्द्रपुर, सन् १९४४ में रहड़ा में स्थापित अनाथ बाल संस्था आदि ने शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। विश्व में सांस्कृतिक विनिमय हेतु विख्यात रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट ऑफ कल्चर की स्थापना १९३८ ई. में हुई, जहाँ से 'कल्चर बुलेटिन' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है और यह संस्था बहुआयामी सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ नित्य प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

६. विदेशों में कार्य – इस समय विदेशों में भी भावधारा का प्रचार-प्रसार दृष्टिगोचर होता है। फीजी में नादी, अमेरिका में सेण्ट लुईस, वेदान्त सोसाईटी, तथा न्यूयार्क, कैलिफोर्निया, बोस्टन आदि में नये केन्द्रों की स्थापना हुई और जर्मनी, स्वीट्जरलैण्ड, फ्रान्स आदि देशों में भावधारा का विकास हुआ।

७. प्रकाशन आदि – वसुधैव कुटुम्बकम् तथा त्याग और सेवा द्वारा आत्मोन्नति करना भारत की प्राचीन परम्परा रही है। इसलिए संघ अपने सभी केन्द्रों में पूजा-अर्चना, व्याख्यान, सार्वजनिक उत्सवों, सभाओं, प्रवचनों और प्रकाशन के द्वारा भारत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक आदर्श के प्रचार-प्रसार तथा विभिन्न धर्मों में परस्पर सौहार्द बढ़ाने की दिशा में कार्य करते चला आ रहा है।

प्रमुख प्रकाशन – श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, श्रीरामकृष्णवचनामृत, माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द की जीवनी, विवेकानन्द साहित्य, उपनिषद, श्रीमद्भगवद्गीता आदि देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए।

प्रमुख उत्सव – श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द जन्मतिथि, बुद्ध जयन्ती, काली पूजा, दुर्गा पूजा, क्रिसमस पूर्व सन्ध्या इत्यादि अनेक आश्रमों में बड़े स्तर पर मनाए जान लगे।

८. महत्त्वपूर्ण राहत कार्य – स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन स्थापना कर साधु और गृहस्थ भक्तों को मनुष्य की ईश्वरभाव से सेवा करने को कहा। सेवा करने से चित्तशुद्धि होती है और साधक क्रमश: ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होता है। रामकृष्ण संघ अपनी स्थापना से अभी तक प्राकृतिक आपदाओं – बाढ़, सूखा, महामारी आदि में अपनी सेवा प्रदान करता आ रहा है। १९३६ से १९५० ई. तक महत्त्वपूर्ण राहत-कार्य हुये। १९४२ में बंगाल-उड़ीसा तूफान राहत-कार्य और १९५० में बंगाल में अकाल-राहत कार्य।

९. प्रशासनिक व्यवस्था – रामकृष्ण संघ की एकता को सुदृढ़ बनाने, उसे सुव्यवस्थित, सर्वांग सुन्दर और प्रभावशाली बनाने के लिये न्यासियों ने अप्रैल, १९३५ में प्रथम साधु-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें तत्कालीन संघ के महासचिव स्वामी विरजानन्द जी ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के आदर्श को जीवन में सुचारु रूप से पालन करने का उपदेश दिया । उन्होंने सभी आश्रमों और साधुओं में परस्पर सौहार्द की भावना को सुदृढ़ करने को कहा । उसके बाद (Rules & Regulations of Math and Mission) नियमावली का १९३५ ई. में गठन हुआ, जिसे पुन: १९३७ ई. में संशोधित किया गया।

१. सभी विषयों में स्वामीजी द्वारा निर्मित नियमावली ही परम श्रद्धा विश्वास से स्वीकृत हुई।

२. केन्द्र की स्वायत्ता को क्षति पहुँचाए बिना संघ का विकेन्द्रीयकरण कर दिया गया। आध्यात्मिक तथा प्रशासनिक

आदि सभी क्षेत्रों में ट्रस्टी ही प्रमुख होंगे।

अत: सन् १९३७ में बनी नियमावली में संशोधन से संघ की अनुशासनिक सुव्यवस्था में सहायता मिली।

रामकृष्ण भावधारा का चतुर्थ चरण (स्वतन्त्रता के बाद)

१. स्वतन्त्रता के बाद का प्रथम चरण (१९४७ से १९६५ ई.) – १५ अगस्त, १९४७ ई. को स्वतन्त्रता के आगमन ने भारत के चतुर्दिक उन्नति और विकास के द्वार को उन्मुक्त कर दिया। तब तक रामकृष्ण संघ भी अपने ५० वर्ष पूर्ण कर अनुशासित और सक्रिय संस्था के रूप में लोगों का प्रेम तथा सम्मानभाजन हो चुका था। इस चरण में स्वामी विरजानन्द जी १९५१ तक संघाध्यक्ष रहे। फिर उनके उत्तराधिकारी के रूप में स्वामी शंकरानन्द जी १९५१ से १९६२ ई. तक संघाध्यक्ष पद पर आसीन हुए।

(क) स्वास्थ्य – इस चरण में रामकृष्ण मिशन ने स्वास्थ्य के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की। वाराणसी, वृन्दावन, हरिद्वार में नये भवन-निर्माण के साथ विस्तार हुआ और शिशुमंगल १९५७ में 'सेवाप्रतिष्ठान' नामक अस्पताल के रूप में संचालित होने लगा। इसके साथ ही विभिन्न आश्रमों में नए चिकित्सालय विभागों का आरम्भ किया गया ।

(ख) शिक्षा – इस काल में शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण उन्नति दृष्टिगोचर होती है। सारदापीठ और नरेन्द्रपुर में नये डिग्री कॉलेज और बेलघरिआ में पॉलीटेक्निक कॉलेज आरम्भ हुये। १९८५ ई. में देवघर अपनी पुरुलिया शाखा से अलग केन्द्र बना। ग्रामीण क्षेत्रों में रामहरिपुर, बाँकुड़ा जैसे शिक्षा केन्द्रों की स्थापना हुई।

रामकृष्ण-भावधारा नवागत सदस्यों के लिये सुगम हो, इसलिए १९ मई, १९५६ ई. में पवित्र अक्षय तृतीया को बेलूड़ मठ में ब्रह्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गई। 'इंस्टिट्युट ऑफ कल्चर' अपने बृहत् कार्यक्रम के साथ गोलपार्क, कोलकाता में स्थापित हुआ।

(ग) श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह – १९४७ ई. से १९६५ ई. का काल रामकृष्ण संघ के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें श्रीमाँ सारदा देवी जन्म-शताब्दी समारोह तथा दस वर्षो पश्चात् स्वामी विवेकानन्द का जन्म-शताब्दी समारोह मनाया गया। श्रीमाँ सारदा देवी जन्म-शताब्दी समारोह में प्रदर्शनी, सम्मेलन, महिला सांस्कृतिक सभा, शोभायात्रा तथा देश-विदेश में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गये। इसमें देश की विभिन्न भाषाओं में श्रीमाँ सारदा देवी की संक्षिप्त जीवनी तथा संदेश और अंग्रेजी भाषा में 'ग्रेट वुमेन ऑफ इण्डिया' पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी काल में दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण-सारदा मठ की स्थापना हुई। यह १९६० में बेलूड़ मठ से अलग हुई। अब स्वतन्त्र 'रामकृष्ण-सारदा मिशन' के नाम से वर्तमान में कार्यरत है।

उसी प्रकार पूरे एक साल चलनेवाले स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह (१९६३–१९६४ ई.) में जनसभा, अखिल भारतीय साधु सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय धर्ममहासभा, अखिल भारतीय नारी सम्मेलन, अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन आदि कार्यक्रम पूरे विश्व में आयोजित हुए।

२. स्वतन्त्रता के बाद का द्वितीय चरण – १९६५ से १९८२ ई. तक के समय को स्वतन्त्रता के बाद का द्वितीय चरण कहा जा सकता है। संघाध्यक्ष स्वामी माधवानन्द जी के बाद स्वामी वीरेश्वरानन्द जी संघाध्यक्ष हुए । इस चरण में शिक्षा, स्वास्थ्य और राहत कार्य के क्षेत्र में यथेष्ट उन्नति के साथ अनेक नये आश्रमों की स्थापना हुई।

(क) ग्रामों की ओर – इस चरण में ग्रामीण लोगों की सेवा हेतु रामकृष्ण संघ द्वारा १९८० में 'पल्लीमंगल' योजना का आरम्भ किया गया। इसका उद्देश्य था ग्रामों में उपलब्ध सभी संसाधनों से प्रशिक्षण देकर वहाँ की मूलभूत आवश्यकताओं – स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की पूर्ति करना।

१९६९ ई. में जनजातियों के कल्याणार्थ रामकृष्ण मिशन, मोराबादी, राँची ने 'दिव्यायन' का आरम्भ किया गया, जिसमें मत्स्य-उद्योग, मुर्गी-पालन, दुग्ध-उत्पादन आदि में प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। १९७७ से वह 'कृषि विज्ञान केन्द्र' से प्रसिद्ध हुआ । वहाँ किसानों को प्रशिक्षण दिया जाता है। उसी प्रकार नरोत्तम नगर, चेरापुंजी, नारायणपुर, छत्तीसगढ़ में विभिन्न केन्द्र आरम्भ हुये।

(ख) १९८० का महासम्मेलन – साधुओं, भक्तों, प्रशंसकों और भावाधारा के सदस्यों के लिये १९८० ई. के अन्तिम सप्ताह में आयोजित द्वितीय महासम्मेलन रामकृष्ण भावधारा के इतिहास में चिर स्मरणीय हो गया।

इस महासम्मेलन का मुख्य उद्देश्य रामकृष्ण-भावधारा के सभी सदस्यों के बीच गहरा सम्बन्ध स्थापित करना था। इसमें देश-विदेश के लगभग १२,००० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस महासम्मेलन में 'रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषद' का गठन हुआ, जिसका प्रमुख उद्देश्य था सभी सदस्यों का समर्थन प्राप्त करना और आपसी सहयोग द्वारा रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा को देश-विदेश में लोकप्रिय बनाने के लिए एकजुट होकर प्रयास करना।

३. स्वतन्त्रता के बाद का तृतीय चरण

१९८२ ई. से अब तक की अवधि को रामकृष्ण-भावधारा के इतिहास को स्वातन्त्र्योत्तर काल, तृतीय चरण कहा जा सकता है। स्वामी वीरेश्वरानन्द जी के १९८५ ई. में महासमाधि में लीन होने के बाद स्वामी गम्भीरानन्द ने ९ अप्रैल, १९८५ को, स्वामी भूतेशानन्द २४ जनवरी, १९८९ को, स्वामी रंगनाथानन्द ७ सितम्बर, १९९८ ई. में, स्वामी गहनानन्द २० मई, २००५ ई. को संघाध्यक्ष बने। वर्तमान में स्वामी आत्मस्थानन्द जी दिसम्बर, २००७ से संघाध्यक्ष हैं।

स्वतन्त्रता के बाद तीसरे चरण में अनेक नये आश्रम आरम्भ हुए, जिसमें स्वामी प्रेमानन्द के जन्मस्थान आँटपुर, स्वामी रामकृष्णानन्द के जन्मस्थान इच्छापुर, स्वामी ब्रह्मानन्द के जन्मस्थान सिकरा कुलीन ग्राम और स्वामी विवेकानन्द का चिर-अभिलषित रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय सम्मिलित है।

शिक्षा, स्वास्थ्य तथा राहत कार्यों में पर्याप्त उन्नति के साथ-साथ रामकृष्ण मिशन इस्टिट्यूट आफ कल्चर द्वारा दिया जानेवाला 'विवेकानन्द पुरस्कार' आदि विभिन्न प्रोत्साहनकारी कार्यक्रम आरम्भ किये गये।

जनवरी, २०१० से जनवरी, २०१४ तक चतुर्वर्षीय स्वामी विवेकानन्द सार्द्धशती जयन्ती समारोह सम्पूर्ण देश-विदेश में बड़े धूम-धूम से मनाई गयी। यह एक ऐसा समारोह था, जिसे सभी देशों ने सरकारी स्तर पर और सभी प्राइवेट या सरकारी सस्थाओं ने बड़े धूमधाम से मनाया और विश्व में स्वामी विवेकानन्द के विश्वशान्ति के संदेश को गुंजयामान किया।

उपसंहार

लगभग १२५ वर्षों के इस संक्षिप्त इतिहास में रामकृष्ण संघ ने आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एकता तथा विश्व-शान्ति के लिये जो कार्य किया है, वह सबको आश्चर्यचकित कर देता है। किन्तु २१ वीं सदी में वैश्विक एकता के इस युग में जहाँ एक ओर इसकी चुनौतियाँ बढ़ी हैं, वहीं दूसरी ओर जिम्मेदारियाँ भी। हम इस पर विचार करें कि कैसे आध्यात्मिकता को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार में लाया जाय। रामकृष्ण संघ की नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा सम्पूर्ण विश्व में शान्ति, सौहार्द और समरसता स्थापित करने में संलग्न है। **(समाप्त)**

सन्दर्भ सूची –

१. The Story of Ramakrishna Mission. २. Ramakrishna Mission what it is? - Swami Pavitrananda. ३. Belur Math, Pligrimage - Swami Ashutoshananda ४. रामकृष्ण संघ : आदर्श व इतिहास - स्वामी तेजसानन्द ५. युगनायक विवेकानन्द - स्वामी गम्भीरानन्द

ब्रह्म की झलक दर्शायी है कबीर ने

बाबूलाल परमार, रतलाम

धर्म के नाम पर फैला था पाखंड जब,
ओजस्वी वाणी से तब प्रहार किया था कबीर ने ।
अध्यात्म में आडम्बर है, तो है नहीं अध्यात्म वह,
सत्य का शाश्वत दर्शन कराया है कबीर ने ।
हिन्दू हों या मुस्लिम 'बाबूलाल' एक सूत्र में,
प्रेम का पवित्र पाठ पढ़ाया है कबीर ने ।।
'साधना' सुमिरन की सरल से सरलतम,
विशेष योग जप–तप सिखलाई कबीर ने ।
भजन में भाव की प्रधानता सर्वोच्च मान,
ध्यान की सहज विधि बतलाई है कबीर ने ।
कर्मकाण्ड जटिल की उलझन से मुक्त कर,
ब्रह्म की झलक दर्शायी है कबीर ने ।।

आध्यात्मिक जिज्ञासा (१८)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

– अर्थात दोनों ही लक्ष्य है। एक लक्ष्य है और एक साधना है, ऐसा नहीं है। स्वामीजी ने यही कहा है।

महाराज – एक मुख्य है और दूसरा गौण है, ऐसा भी नहीं है। श्रीरामकृष्ण-वचनामृत के लेखक 'श्रीम' ने जैसे दिखाया है, उसके अनुसार तो आत्ममुक्ति ही लक्ष्य प्रतीत होता है। यही तो समस्या है कि स्वामीजी की वाणी को महत्त्व देंगे या वचनामृत पर जोर देंगे?

– वह तो निर्णय हो गया है। सबने स्वामीजी की बात ही स्वीकार कर ली है।

महाराज – तो, निर्णय होने से क्या होगा? अभी हमलोगों में बहुत-से लोगों के मन में दूसरा गौण है।

– दूसरा अर्थात् जगत-कल्याण को बहुत से लोग गौण मानते हैं। उसे चित्तशुद्धि का मार्ग या साधना ही समझते हैं, फिर जगत-कल्याण स्वयं ही होगा। हमलोगों के द्वारा ईश्वरप्राप्ति का प्रयास करने, मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा करने से जगत-कल्याण स्वयं ही होगा, ऐसा भी एक सिद्धान्त है।

महाराज – हाँ, वैसा तो है ही।

– क्या वह स्वामीजी का अभिप्राय नहीं है?

महाराज – हाँ, वह स्वामीजी का अभिप्राय है। उन्होंने कहा है – एक गुफा में बैठकर यदि कोई सच्चिन्तन करे, तो वह विचार गुफा की दीवाल को भेदकर संसार में फैल जायेगा।

– किन्तु जब उन्होंने हम लोगों का आदर्श वाक्य बनाया, तब वैसा क्यों किया?

महराज – यदि हमलोग प्रारम्भ से ही ऐसा सोचें कि एक के करने से ही हो जायेगा, तो यह भूल होगी।

– किन्तु स्वामीजी ने तो इसके विपरीत भी कहा है। वे स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज को कहते हैं, यदि तुम केवल मुक्ति चाहते हो, तो नर्क में जाओगे।'

महाराज – उसका क्या कारण है? क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति इधर ही अधिक रहती है। यद्यपि मुक्ति का तात्पर्य आँख मूँदकर बैठे रहना नहीं है।

– किन्तु महाराज ! जब जगत-कल्याण के लिये हमलोग कार्य कर रहे हैं, तब यदि उसे साधना के रूप में न करें, तो कैसे और किस दृष्टि से करेंगे?

महाराज – साधना के रूप में नहीं करने से, उसका उद्देश्य व्यर्थ हो जायेगा।

– तब तो उद्देश्य फिर से मुक्ति ही है।

महाराज – मैंने वही बात कही है। मुक्ति के सम्बन्ध में यदि सजगता न रहे, तो मुक्ति नहीं मिलेगी।

– जब भी हमलोग आध्यात्मिक भाव से कार्य कर रहे हैं, तभी मुक्ति का प्रश्न आता है।

महाराज – मुक्ति प्राप्त होगी। किन्तु हमारी ही मुक्ति पर्याप्त नहीं है। जगत-कल्याण के बारे में भी हमें सजग रहना होगा। स्वामीजी यही बात कह रहे हैं।

– महाराज ! यदि हम ऐसा कहें अपनी मुक्ति और दूसरों की मुक्ति का प्रयास करना। तो क्या एक ही उद्देश्य नहीं हुआ?

महाराज – वैसा नहीं है।

– जगत-कल्याण यदि दूसरे की मुक्ति का कारण हो, तब तो उद्देश्य एक ही है।

महाराज – क्या मुक्ति और भूखों को भोजन देना एक

ही बात है? ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या जानकर भी जगत का कल्याण करने का प्रयास करेंगे, क्योंकि हम जिसके लिये कर रहे हैं, उसे आवश्यकता है। उससे ज्ञान या मुक्ति-भाव बाधित नहीं होता। ठाकुर कहते हैं – "भूखे पेट में भजन नहीं होता।" ठाकुर की वाणी में अनुसंधान करने पर सभी सूत्र मिल जायेंगे। स्वामीजी जो कह रहे हैं, वह ठाकुर की वाणी के विपरीत नहीं है।

(१२)

प्रश्न – महाराज ! आपने कहा था, यदि तुम कर्म में सेवा-भावना कर सको, तो देह-बोध कम हो जायेगा।

महाराज – देखो, विचार के साथ लोक-व्यावहारिक कार्यों का विरोध तब होता है, जब व्यक्ति गहन-ध्यान में रहता है। व्यक्ति जब ध्यान में पहुँचता है, तब सभी इन्द्रियों का विरोध कर ध्यान में मन को एकाग्र करना पड़ता है। उस समय कर्म के साथ विरोध होता है। तब कर्म से कुछ नहीं होता। इन्द्रियों का कर्म है। साधारणत: व्यक्ति का ध्यान के साथ कर्म का कुछ विरोध तो है, किन्तु वह बहुत दूर है। ठाकुर जब समाधि में थे, तब क्या वे कोई कार्य कर पाते थे? बात ही नहीं कर पाते थे। इसलिए उस अवस्था में कोई कार्य नहीं होता, सांसारिक कार्य भी नहीं होता और नि:स्वार्थ कार्य भी नहीं होता। उस अवस्था में कर्म के साथ विरोध है, किन्तु उसके पहले तक कोई विरोध नहीं है। जब तक साधक उस अवस्था में नहीं पहुँचता, तब तक विरोध नहीं है। क्योंकि यदि विचार के साथ विचारणीय विषय का विरोध न हो, तो जन-सेवा में विरोध कहाँ है? उसके बाद भी विरोध कहाँ है? कहते हैं – जो कर्म व्यक्ति को संकुचित करता है, उसके साथ विरोध है। अर्थात् स्वार्थभाव से प्रेरित कर्म से विरोध है। किन्तु नि:स्वार्थ कर्म के साथ कहीं कोई विरोध नहीं है। स्वामीजी भी यही बात कह रहे हैं। शंकराचार्य भी स्पष्ट रूप से कहते हैं – जो कर्म सकाम है, उसके साथ ही विरोध है। उसके बाद यदि सकाम कर्म करते-करते मन में निष्काम भाव आ जाय, तो कोई विरोध नहीं रहा।

– अर्थात् प्रारम्भिक कर्म निष्काम भाव से करते जा रहे हैं। **(क्रमशः)**

प्रेरक लघुकथा

मन आँखिन सो हरि लख्यो

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

एक बार संत गोंदवलेकर पुणे गए। वहाँ एक शास्त्री उनसे मिलने आए। उन्होंने आते ही प्रश्न किया, "क्या आप संत हैं?" "नहीं, मैं संत नहीं, किन्तु लोग मुझे संत समझने की भूल करते हैं।" गोंदवलेकरजी ने उत्तर दिया।

"तब आप अपने को क्या समझते हैं?" इस प्रश्न पर उन्होंने उत्तर दिया, "मैं अपने को दीन-हीन अज्ञानी मानता हूँ।" फिर तो शास्त्रीजी ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी –

"आप करते क्या हैं?

"राम-नाम का जप"

"क्या आप प्रवचन-उपदेश नहीं देते?"

"जो मुझसे प्रश्न करते हैं, उनका मैं समाधान करने की चेष्टा करता हूँ।"

"आपने भगवान के दर्शन किए हैं ?"

"हाँ"

"क्या आप मुझे दर्शन कराएँगे?"

"अवश्य, किन्तु वे मानवीय दृष्टि से दिखाई नहीं देते। उसके लिए ज्ञान चक्षु चाहिए।"

"ज्ञान चक्षु से आपका क्या आशय है?"

"मन में शंका का अभाव, भगवान के प्रति अपार प्रेम, एकनिष्ठा, नाम-स्मरण में गहरी आस्था और दर्शन की तीव्र अभिलाषा, इन सबसे ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और ईश्वर का दर्शन हो जाता है। मन की आँखें ही ज्ञान-चक्षु हैं।"

"यह तो भक्ति हुई, ज्ञान नहीं।"

"यानी ज्ञान और भक्ति एक ही हैं।"

"ज्ञान-प्राप्ति के लिए विवेक-वैराग्य आवश्यक है तथा भक्ति हेतु दृढ़ प्रेम और कठिन साधना आवश्यक है।"

संत गोंदवलेकरजी ने शास्त्रीजी के मन में उठे प्रश्नों का तार्किक उत्तर देकर उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त कर दी।

परमात्मा भौतिक आँखों से नहीं मन की आँखों से दिखाई देते हैं। भगवान हमारे हृदय में रहते हैं। मन के शुद्ध होने पर प्रज्ञा जागृत होती है। ईश्वर-दर्शन के लिए तीव्र व्याकुलता और ललक चाहिए। भक्तवत्सल प्रभु प्रेम से अभिभूत हो भक्त को शीघ्र दर्शन देकर उसे धन्य करते हैं। ○○○

सभी क्रियाओं में हों भगवान

स्वामी सत्यरूपानन्द

जीवन बहुत तेजी से चल रहा है, इसलिए जितना हो सके उतना सत्संग और भगवान का नाम जप लेना चाहिये। हमेशा मृत्यु का ध्यान रखो। काल की गति किसी के लिये नहीं रुक सकती। जीवन में किस बात की प्रधानता रखनी चाहिए? भगवान कहते हैं, जब तुम्हारे जीवन में भगवान प्रमुख होंगे, तब तुम आध्यात्मिकता में जाओगे। इसके लिये साधना करनी है, सबकी सेवा करनी है, भगवान का नाम जप करना है। घर का सब काम करो, लेकिन जप, ध्यान, पूजा के लिये समय जरूर निकालो। इसका सतत अभ्यास करो।

सामान्यत: क्रिया के पीछे अहंकार जुड़ा रहता है, लेकिन यदि हम वही कर्म भगवान के प्रीत्यर्थ करें, तो उससे अंहकार नहीं बढ़ेगा। हमारी आंकाक्षाएँ बहुत हैं, इसके कारण हम बन्धन में पड़ते हैं। यदि हम कर्म को भगवत्-समर्पित बुद्धि से करें, तो हम बंधन में नहीं फँसेंगे।

हमें प्रत्येक कार्य के आगे-पीछे-मध्य में भगवान का स्मरण करना है। उनके शरणागत होकर रहना है। तभी पूर्ण समर्पण के भाव से कर्म होगा और वह कर्म हमें आसक्ति और अहंकार के बन्धनों से मुक्त कर भगवान से मिला देगा। सच्चाई यह है कि जो भी हो रहा है भगवान ही कर रहे हैं और जो भी हुआ है, वह भगवान की इच्छा से हुआ है।

किसी भी कर्म को झंझट नहीं समझना चाहिए। भगवान ने हमें बुद्धि दी है, हमें स्वतंत्रता दे रखी है कि हम विवेकपूर्ण निर्णय लेकर काम करें। प्रभु से हमेशा सद्‌बुद्धि ही माँगनी चाहिए। यद्यपि बुद्धिपूर्वक काम करना कठिन लगता है, तो भी आलस्य नहीं करना चाहिए। हमेशा अपने मन पर दृष्टि रखनी चाहिए।

मन पर दृष्टि रखने की आदत चौकीदार जैसी है। पहले विचार होता है फिर कार्य होता है। कोई भी मन में विचार आये, तो उसका विवेक द्वारा विश्लेषण करें, उसकी व्यर्थता को समझकर छोड़ दें और भगवान से जुड़े रहें।

सबको सम्मान करना, लेकिन निष्ठा अपने इष्ट पर ही रखना। किसी की तीखी व्यंग्य बातों पर ध्यान मत दो। तुम स्वयं भी किसी के बारें में व्यंग्य मत कहो। किसी का दोष मत देखो। किसी की निन्दा मत करो। मनुष्य को पापी कहना ही सबसे बड़ा पाप है। छोटी-छोटी चीजों से प्रारब्ध बनता है। इसलिये सत्कर्मों द्वारा अपना प्रारब्ध अच्छा करो।

हमारे मन में अगर संघर्ष नहीं है, तो समझ लो कि आध्यात्मिक जीवन शुरू हुआ ही नहीं। मन में द्वन्द्व आना अच्छी बात है। द्वन्द्व आने से विवेक-विचार करने की शक्ति मिलती है। सार-असार का विचार करने का द्वन्द्व आना चाहिए और संसार को असार समझ कर मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए। जिसके जीवन का केन्द्र संसार है, वह संसारी है। संसार केवल व्यवहार के लिये है, मन लगाने की वस्तु तो भगवान ही हैं। संसार जैसा है वैसा ही रहेगा। परिवर्तन हमें अपने मन में लाना है। इसलिये भगवान के द्वारा दिये गए सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भगवान का भजन करते रहें।

संपत्ति के प्रति हमारी दृष्टि ऐसी होनी चाहिए कि सब कुछ भगवान का ही है और भगवान के काम में ही उसका उपयोग करेंगे।

वेदान्त कहता है कि हम जहाँ हैं, जैसे हैं, जिस परिस्थिति में हैं, सब कुछ हमें प्रारब्ध से मिला है। भक्तिशास्त्र के अनुसार जो कुछ मिलता है, वह ईश्वर की इच्छा से मिलता है। यदि हम भगवान का आश्रय लेंगे, तो प्रारब्ध में जो पैर कटने वाला था, वहाँ काँटा चुभकर ही रह जायेगा। सब संकट पुल के नीचे पानी के समान निकल जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ उत्तम पुरुष में स्वयं से होता है। हम ऐसी वाणी न बोलें, किसी के साथ ऐसा व्यवहार न करें, जिससे किसी का मन दुखे, किसी को आघात लगे। कोई हमको कड़ी बात बोलता है, तो बोले, हम उसे नहीं बोलेंगे। ठाकुरजी की वाणी है – जो सहता है, वह रहता है। धैर्य रखना प्रकृति का नियम है। अच्छे कर्म करें, भगवान से प्रतिक्षण प्रार्थना करें और अच्छे होने के लिये प्रतिज्ञा करें। ○○○

माइकेल फेराडे

विश्व में ऐसे अनेक वैज्ञानिक हुए हैं, जिन्हें हमारी तरह पढ़ाई-लिखाई करने की अधिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। उनका जन्म गरीब परिवार में हुआ था। उनके घर में भोजन के लिए पर्याप्त अन्न नहीं होता था। किन्तु एक अद्भुत गुण उनमें था और वह था सीखने का और कुछ नया कर दिखाने का उत्साह।

माइकेल फेराडे के नाम से विज्ञान के विद्यार्थी अच्छी तरह परिचित होंगे। वे एक लुहार के पुत्र थे। उनका जन्म २२ सितम्बर, १७९१ को लंदन के न्यूंइगटन सरे में हुआ था। स्वाभाविक है कि लुहार के घर जन्म होने के कारण उनकी उच्च शिक्षा की कोई सम्भावना नहीं थी। उनका बचपन गरीबी में बीता।

१८०४ में १४ वर्ष की आयु में माइकेल ने नौकरी करनी शुरू की। उसे पुस्तक-विक्रय और जिल्दसाजी की दुकान में काम मिला। दुकान के मालिक का नाम ज्यॉर्ज रेबु था। माइकेल समाचारपत्र बाँटने का काम करता था। उसके काम से प्रसन्न होकर रेबु ने उसे अपनी दुकान में पुस्तक-बाइन्डिग का काम दिया। बाकी लोग तो केवल बुक-बाइन्डिंग का ही काम करते थे, किन्तु माइकेल बुक-बाइन्डिंग के साथ-साथ उस पुस्तक को भी पढ़ लेता था। पुस्तक पढ़ना उसकी रुचि थी और वह पढ़ता रहता था। उसे यह नहीं पता था कि आगे चलकर उसे क्या बनना है। इसी प्रकार उसे एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की पुस्तक प्राप्त हुई। उसने उसमें विद्युत के बारे में पढ़ा। इस प्रकार आठ साल तक वह पुस्तक बाइन्डिग का काम करता रहा।

युवा माइकेल की विज्ञान में दिनोंदिन रुचि बढ़ती गई। १८१२ में वे सिटी फिलोसोफिकल सोसायटी के सदस्य बने। इसकी सदस्य बनने की शुल्क-राशि उनके भाई ने उन्हें दी थी। इस सोसायटी में व्यक्तित्व-विकास, विज्ञान आदि पर अनेक व्याख्यान होते थे। इन व्याख्यानों के आधार पर उन्होंने कुछ नोट्स बनाए। जब उनके दुकान-मालिक ज्यॉर्ज रेबु ने माईकेल के नोट्स देखे, तो उन्होंने उसे विज्ञान का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

ज्यॉर्ज रेबु ने माइकेल के ये नोट्स अपने एक मित्र को दिखाए। उनका वह मित्र नोट्स पढ़कर इतना प्रभावित हो गया कि उन्होंने माइकेल को महान वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी के व्याख्यान सुनने के लिए चार टिकट दिए। इस घटना ने माइकेल के जीवन में एक क्रान्ति ला दी। माइकेल को किसी अन्य उपहार से इतनी अधिक प्रसन्नता नहीं होती। वे पेन-कागज लेकर हम्फ्री डेवी के व्याख्यान सुनने गए और उनका पूरा विवरण लिखा। ये नोट्स उन्होंने हम्फ्री डेवी को भेजे और लिखा कि वह उनके शोध-कार्य में कुछ भी छोटा-सा कार्य करने को तैयार है।

सौभाग्यवश उसी समय डेवी के साथ रॉयल इन्स्टट्यिूट में काम कर रहे व्यक्ति को अपना पद छोड़ना पड़ा। डेवी की सिफारिश पर माइकेल को २१ शिलिंग प्रति सप्ताह पर कार्य मिला। यह वेतन बहुत कम था, फिर भी माइकेल ने इसे स्वीकार किया, क्योंकि उसे एक महान वैज्ञानिक का साथ प्राप्त होने वाला था। यहाँ वह बोतल, परीक्षण-नलिकाएँ आदि धोने का कार्य करता था। डेवी अपने सहायक माइकेल की विद्वत्ता और निष्ठा से इतने प्रभावित हुए कि वे अपनी यूरोप-यात्रा में उन्हें भी साथ ले गए।

यूरोप की यात्रा के बाद माइकेल को फिर से रॉयल संस्थान में सहायक के पद पर नियुक्त किया गया। किन्तु इस बार उन्हें बोतल इत्यादि धोने का नहीं, बल्कि वैज्ञानिक कार्य दिए गए। फेराडे ने पूरी लगन से वैज्ञानिक क्षेत्र में कार्य किया। उन्हें ऐसी सफलता प्राप्त हुई कि १८२४ में वे रॉयल सोसायटी के सदस्य बन गए और अगले वर्ष उन्हें उस संस्थान के निदेशक के स्तर का कार्यभार दिया गया। वे विज्ञान सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देते थे।

फेराडे ने विद्युत और चुम्बकीय शक्ति के सम्बन्धों पर अनेक प्रयोग किए। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि चुम्बकीय शक्ति में परिवर्तन करने से विद्युत शक्ति में

शेष भाग पृष्ठ २८३ पर

भारतीय सभ्यता और मातृत्व

स्वामी मेधजानन्द

स्वामी विवेकानन्द के पाश्चात्य अनुयायी और प्रशंसक स्वामीजी से मिलने भारत आए थे। उनमें से जोसेफाइन मेक्लाउड और श्रीमती ओली बुल भी थे। वे एकबार कोलकाता के किसी होटल में रुके हुए थे। वहाँ श्री मोहिनी चैटर्जी उनसे मिलने गए और कुछ कार्यवश शाम पाँच बजे से रात के दस बजे तक वहीं रहे। जोसेफाइन मेक्लाउड ने उनसे कहा, 'कहीं आपकी पत्नी चिन्तित तो नहीं होगी?' उन्होंने उत्तर दिया, 'घर जाकर मैं माँ को समझा दूँगा।' जोसेफाइन मेक्लाउड को इसका तात्पर्य समझ में नहीं आया। कई साल बाद जब उनका श्रीमोहिनी चैटर्जी से अच्छा परिचय हुआ, तो उन्होंने पुन: उनसे पूछा, ''उस दिन आपने जो कहा था कि आप माँ को समझा देंगे, उसका क्या तात्पर्य था?'' श्री मोहिनी चैटर्जी ने उत्तर दिया, ''पहले अपनी माँ के कमरे में जाकर, उन्हें दिन भर की घटनाओं से अवगत कराए बिना मैं कभी भी अपने कमरे में नहीं जाता।'' तब जोसेफाइन ने कहा, ''किन्तु आपकी पत्नी? क्या आप उसे सब कुछ नहीं बताते?'' उन्होंने उत्तर दिया, ''मेरी पत्नी? उसे ऐसा ही व्यवहार अपने पुत्र से प्राप्त होता है।'' जोसेफाइन मेक्लाउड ने इस विषय में कहा था, ''तब मुझे भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता के बीच मूलभूत भेद समझ में आया। भारतीय सभ्यता मातृत्व पर आधारित है और हमारी सभ्यता पत्नीत्व पर आधारित है – इसके कारण जमीन-आसमान का अन्तर पड़ जाता है।''

उपरोक्त प्रसंग में प्राचीन भारतीय सभ्यता की एक झलक देखने को मिलती है। ईश्वर का मातृत्व भाव, यह भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है। भारतीय व्यक्ति जीवन के प्रत्येक स्तर पर जगत-शक्तिरूपिणी माँ की अभिव्यक्ति अपनी जन्मदात्री माँ का आशीर्वाद प्राप्त कर अपने कार्यों का शुभारम्भ करता है और उसी के चरणों में अपने समस्त फलों को निवेदित करता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''भारत में नारी ईश्वर की साक्षात् अभिव्यक्ति है तथा उसका सारा जीवन इस विचार से ओत-प्रोत है कि वह माँ है...।''

भारतीय संस्कृति भोगपरायण न होकर धर्मपरायण है। यद्यपि चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में काम अर्थात् संसार-सुख को भी स्थान दिया गया है, किन्तु इसका आधार धर्म होता है। यहाँ के प्रत्येक कार्यों का एक ही मापदण्ड है, कि वह हमें धर्म पथ पर अग्रसर करता है या नहीं ?

धर्म क्या होता है, इसकी प्रथम शिक्षा बालक को अपनी माँ से प्राप्त होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, नि:स्वार्थता, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है।'' भारतीय नारी सन्तान के जन्म के पहले ही व्रत-उपवास रखना शुरू कर देती है। नौ महीने वह अपनी होने वाली सन्तान को गर्भ में तो धारण करती है, किन्तु वह काल मानो उसके लिए तप:काल हो जाता है। वह जानती है कि उसका प्रत्येक चिन्तन-मनन और दिनचर्या उसकी भावी सन्तान को प्रभावित करेगी।

स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महाराणा प्रताप, शिवाजी महाराज और अन्य सन्तों के जीवन में हम देखते हैं कि उनके जन्म के पहले उनकी माताओं ने कितने व्रत-उपवास किए थे। स्वामी विवेकानन्द की माँ भुवनेश्वरी देवी उनके जन्म के पहले जप-ध्यान, उपवास और कष्टकर साधना में लग गई थीं। वे देवाधिदेव महादेव से अपनी सन्तान के लिए प्रार्थना करती थीं।

स्वामीजी के बाल्यकाल में वे उनको गोद में बिठाकर अपने वंशगौरव पितामह आदि की बातें, देवी-देवताओं की कथाएँ आदि सुनाया करती थीं। एकबार उनकी माँ ने उन्हें किसी प्रसंगवश शिक्षा दी थी, 'आजीवन पवित्र रहना, अपनी मर्यादा की रक्षा करना तथा कभी भी दूसरों के सम्मान पर आघात नहीं करना। खूब शान्त रहना, किन्तु आवश्यक होने पर हृदय को दृढ़ रखना।''

स्वामी विवेकानन्द आजीवन अपनी माँ को अत्यधिक प्रेम करते थे और उनके उपदेशों का स्मरण रखते थे। वे कहते थे, 'जो अपनी माँ की सच्ची पूजा नहीं कर सकता, वह कभी भी बड़ा व्यक्ति नहीं बन सकता।' अनेकों बार गर्व से वे स्वयं के बारे में कहते, 'अपने ज्ञान के विकास के लिए मैं अपनी माँ का ऋणी हूँ।' ○○○

गीतातत्त्व चिन्तन (८/१०)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय का 'विवेक ज्योति' के १९९१ के मार्च अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है । सं.)

इसीलिए हमने कहा था कि सत्य के दो रूप हैं। एक वह सत्य है, जिसे हम नित्य सत्य कहते हैं और दूसरा जो सत्य है, उसे हम अनित्य सत्य कहते हैं। ईश्वर नित्यसत्य हैं, आत्मतत्त्व नित्यसत्य है। ये संसार के जो रूप दिखाई देते हैं, मैं अपने माता-पिता, भाइयों को देखता हूँ, ये मिथ्या नहीं हैं, ये सत्य दिखाई देते हैं। पर कैसे? ये अनित्य सत्य हैं। एक बार यह रूप नष्ट हुआ, तो दुनिया में ऐसा रूप दुबारा बनेगा ही नहीं। इसीलिए इनको अनित्य सत्य कहा गया है। यहाँ कहा गया कि जो वेदविद् हैं, उन्हें वेदों की केवल जानकारी है, अनुभूति नहीं है। यह मानो अपरा विद्या है। जिसे अनुभूति सहित जाना, उसको कहा परा विद्या। जैसे हम मुण्डकोपनिषद् में पढ़ते हैं। एक महागृहस्थ हैं, अर्थात् गृहस्थ तो हैं, परन्तु बहुत ऊँचे विचारों के हैं, उनका आदर्श बड़ा ऊँचा है। बहुत-से नियमों का पालन करते हुए संसार में वे अपना जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसे वे महागृहस्थ हैं शौनक। उनको महाशालक कहा गया। ऐसे महाशालक, महागृहस्थ शौनक अंगिरा ऋषि के पास जाते हैं। उनसे एक प्रश्न पूछते हैं - **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति** – भगवान, आप यह बताइए, किसको जान लेने से सब कुछ जानना हो जाता है। शौनक के मन में यह प्रश्न इसलिए जागा होगा कि संसार में ज्ञान का क्षेत्र इतना विपुल और हर क्षेत्र इतना विस्तृत है कि मनुष्य का एक छोटा-सा जीवन ज्ञान के एक क्षेत्र को जानने के लिए भी पर्याप्त नहीं है। इसलिए शौनक को लगा कि क्या ऐसा कोई रहस्य है, जिसे यदि जान लूँ, तो जो भी जानने योग्य है, उन सबको मैं जान सकूँ। जैसे मिट्टी के एक लोंदे को जान लेने पर, जो कुछ भी मिट्टी का बना हुआ है, वह सब जान लिया जाता है। इसी प्रकार क्या दुनिया में ऐसा कोई ज्ञान है, जिसको पा लूँ, तो जो कुछ भी जानने योग्य है, उसका जानना हो जाए। इसके उत्तर में अंगिरा ऋषि जो कहते हैं, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं - **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च** – परा और अपरा, ऐसी दो विद्याओं को जानना पड़ता है। शौनक ने तब पूछा कि अपरा और परा विद्याएँ कौन-कौन सी हैं?

अंगिरा ऋषि कहते हैं –

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।

अब शौनक तो चकित हो गये कि वेदों से ज्ञान की राशि निकली है, ज्ञान की धारा बही है। वेदों को ही हम ज्ञान का उत्स मानते हैं। अंगिरा ऋषि कह रहे हैं, चार वेद और उन चार वेदों को समझने के लिए छह वेदांग – ये सभी अपरा विद्या के अन्तर्गत ही आते हैं। तब फिर परा विद्या कौन-सी है? जब यह प्रश्न शौनक के मन में जगा, तो अंगिरा उत्तर देते हुए कहते हैं – **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।**

परा वह है, जिसके द्वारा उस अक्षर की अनुभूति होती है। तो एक हो गया ज्ञान और दूसरी हो गई अनुभूति। यहाँ पर श्रीकृष्ण वही कह रहे हैं – **यदक्षरं वेदविदो वदन्ति** – जो वेदों को जाननेवाले हैं, वे उसको अक्षर कहते हैं। यह अपरा विद्या है। अभी अनुभूति नहीं हुई है। मानो अपने सैद्धान्तिक ज्ञान के बल पर बताते हैं कि वह अक्षर ब्रह्म है। **विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः** – जो वीतराग हैं, जिनके जीवन में आसक्ति नहीं हैं, जो प्रयत्न करनेवाले साधक हैं। ये वीतराग क्यों बनते हैं? संन्यासी क्यों बनते हैं? इसीलिए कि वे **विशन्ति यत्** – उस तत्त्व में जाकर निविष्ट हों। यदि कोई धन पाने के लिए संन्यासी बनता है, यश पाने के लिए संन्यासी बनता है, तो वह तो गृहस्थ से भी निम्न है। क्योंकि यदि वह धन और यश पाने की लालसा से ही यति या संन्यासी बनता है, तो उसे लाभ तो कुछ होगा नहीं, बल्कि हानि ही हानि है। तो संन्यासी बनता क्यों है? उस तत्त्व में प्रविष्ट होने की इच्छा से और उस सत्य को पाने के लिए वीतरागी बनता है। उस परम तत्त्व का बोध करने हेतु ही यतिवेश धारण करता है। यदि साधना का उद्देश्य लोकप्रसिद्धि अर्जित करना हो, जगत में अपनी विद्वत्ता का प्रचार करना उद्देश्य हो, यश कमाना उद्देश्य हो, तो सब व्यर्थ चला जाता है। ये सब भगवान को पानेवाले साधक नहीं हैं। यथार्थ साधक तो

वीतरागी होकर - **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति** – उस परम तत्त्व को पाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत अपने जीवन में ग्रहण करता है। यह जो यत् शब्द आया है, यह नपुंसकलिंगी है, जो उस निराकार ब्रह्म की ओर इंगित करता है। उस तुरीय अवस्था, निर्विकल्प समाधि का दिग्दर्शन कराता है। उस तत्त्व को पाने के लिए वह साधना करता है, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, वीतरागी बनता है, वेदों का अध्ययन करता है, स्वाध्याय करता है। **तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।** उस पद के सम्बन्ध में मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ। क्या कहते हैं?

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

सर्वद्वाराणि (समस्त इन्द्रिय द्वारों को) संयम्य (संयम करके) मन: (और मन को) हृदि (हृदय में) निरुध्य (निरोध करके) आत्मन: (अपने) प्राणं (प्राण को) मूर्ध्नि (मस्तक में) आधाय (स्थापना करके) योगधारणां (योगधारणा में) आस्थित: (स्थित होकर) एकाक्षरं (एक अक्षररूप ब्रह्म को) व्याहरन् (उच्चारण करता हुआ) माम् (मुझ निर्गुण ब्रह्म का) अनुस्मरन् (चिन्तन करता हुआ) देहम् (देह को) त्यजन् (त्यागकर) प्रयाति (जाता है) स: (वह) परमां गतिं (परम गति को) याति (प्राप्त होता है)।

– "समस्त (इन्द्रियरूप) द्वारों का संयम करके तथा मन का हृदय में निरोध करके, प्राण को मस्तक में स्थापित करके, योग धारणा में स्थित होकर 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा (उसके अर्थरूप) मेरा स्मरण करता हुआ, जो (मनुष्य) शरीर को छोड़कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।"

भगवान ने सातवें अध्याय के अन्त में कहा था – वह अन्तकाल में मेरा चिन्तन करता हुआ मुझे पाता है। अर्जुन ने सातवें प्रश्न के रूप में पूछा था कि अन्तकाल में आपका चिन्तन करता हुआ वह आपको कैसे पाता है? तो भगवान ने अपने तीन रूप बताए। पहला रूप सगुण निराकार को कैसे पाता है, यह ९वें श्लोक में बता दिया। अब उनका यह जो निर्गुण निराकार का रूप है, इसको कैसे पाता है, जिसको परमां गति कहा है, उसका यहाँ पर वर्णन किया गया है, और तीसरा रूप उनका जो सगुण साकार का है, जहाँ पर वे श्रीकृष्ण के रूप से प्रकट हैं। वे ही श्रीराम होकर आए थे, रामकृष्ण होकर आए थे, बुद्ध होकर आए थे, चैतन्य होकर आए थे। यह जो तीसरा पक्ष है, उसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। यहाँ पर दूसरे पक्ष की बात चल रही है कि निर्गुण निराकार तत्त्व में वह मनुष्य परम गति को कैसे प्राप्त करता है, निर्विकल्प समाधि को कैसे पाता है, वह उस तुरीय अवस्था में कैसे रमता है? इसलिए कहा गया कि **सर्वद्वाराणि संयम्य** - वह सारे दरवाजों का संयमन करता है। सारे दरवाजे का क्या अर्थ है ? **नवद्वारे पुरे देही** - इस शरीररूपी नगर में नौ दरवाजे हैं। नौ दरवाजे आप जानते हैं – दो आँख, दो कान, दो नाक और मुँह है, ये सात हो गये। और इसी प्रकार गुदा और उपस्थ – इस प्रकार पूरे मिलाकर नौ हो गये। इन दरवाजों का नियन्त्रण कर लिया। मतलब? ये इन्द्रियाँ क्या करती हैं? अपने गोलकों के माध्यम से बाहर की ओर जाती हैं। आँखें बाहर का रूप देखती हैं। कान बाहर के शब्द सुनते हैं। इसी प्रकार नाक बाहर की गन्ध लेती है। रसना मानो बाहर का स्वाद लेती है, त्वचा बाहर का स्पर्श करती है। हमारी सब इन्द्रियाँ बहिर्गामी हैं, बाहर की ओर जा रही हैं। तो साधक क्या करता है? वह कहता है कि इन्द्रियों को भीतर ही निरोध करो, भीतर का रूप देखो, भीतर की बात सुनो, भीतर का स्पर्श ग्रहण करने की चेष्टा करो। मानो सबका नियमन कर भीतर की ओर ठेलता है।

मनो हृदि निरुध्य च – यह जो मन है, उसको हृदय में निरुद्ध किया जाता है। मन को हृदय में निरुद्ध करने का क्या मतलब है? मन जो संकल्प-विकल्प कर रहा है, हम उस मन को हृदय में निविष्ट कर देते हैं। जब हम चिन्तन करते हैं, तो वह हृदय में होता है, प्रेम का अनुभव भी हमें इसी स्थान पर होता है। यह सब अनुभूति हमें हृदय में होती है। इसलिए कहा गया है कि इस चंचल मन को जो व्यवधान उत्पन्न करता है, साधक उसे हृदय में निविष्ट कर दे। आगे कहा गया - **मूर्ध्नि आधाय आत्मनः प्राणम्** -फिर प्राण को एकदम सहस्रार में, मस्तक में लाकर स्थापित कर दे। अब यहाँ अन्तर है। अभी तक तो भ्रूमध्य में प्राण स्थापित करने को कहा गया था। अब कह रहे हैं कि मस्तक में प्राण को केन्द्रित करो अर्थात् हमने छठे चक्र का भी भेदन कर दिया। छठे चक्र का भेदन करके हमने कुण्डलिनी को सहस्रार में स्थापित कर दिया। मानो प्राण को वहाँ लाकर स्थित कर दिया। किस प्रकार **योगधारणाम्** – योग की धारणा करते

हुए। भ्रूमध्य में जो योग था, वह सगुण निराकार था। यह जो प्राण का छठे चक्र में आना है, यह कुण्डलिनी शक्ति का जागरण है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, उस समय दर्शन कैसा होता है, जानते हो ! उस समय ईश्वर के दर्शन होते हैं। पर ऐसा लगता है कि कोई व्यवधान है। मैं ईश्वर को पकड़ ले रहा हूँ, छू ले रहा हूँ, फिर भी कहीं कोई व्यवधान रह जाता है। किसी ने पूछा – कैसा व्यवधान रह जाता है? तब उन्होंने कहा – काँच की आलमारी के भीतर किसी किताब को जैसे देखा जाता है। काँच तो पारदर्शी है। यदि तुम किताब को लेने के लिए हाथ बढ़ाते हो, तो काँच का व्यवधान बीच में तुमको अटका देता है। तब तुम्हें लगता है कि अरे, यह तो काँच का व्यवधान है, काँच का अवरोध है। वैसे तुम्हें काँच का अवरोध दिखाई नहीं देता। तो ठीक इसी तरह जब छठे चक्र में कुण्डलिनी शक्ति आती है, तब ऐसा लगता है कि मैंने ईश्वर को पकड़ लिया है, जान लिया है। पर झीना-सा व्यवधान पड़ा रहता है। तो वह जो जान लिया, वह सगुण निराकार के दर्शन की अवस्था थी। यहाँ पर झीना आवरण भी हट गया। हम जब छठे चक्र का भेदन कराके कुण्डलिनी को सहस्रार चक्र में ले गये, तब निर्गुण-निराकार, निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है, इसके बारे में १३वें श्लोक में कहते हैं – **ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्**। अर्थात् ॐ जो एक अक्षर ब्रह्म है तथा जो उस ब्रह्म का उच्चारण करता है, अभ्यास करता है, हर समय अर्थसहित चिन्तन करता है। साथ ही सर्वव्यापक ब्रह्मरूप मेरा अनुस्मरण करता है, अर्थात् मेरे निर्गुण निराकार स्वरूप का स्मरण करता है, वह **यः प्रयाति त्यजन्देहं** – जब अपने शरीर को छोड़ कर जाता है, ऐसी अवस्था में - **स याति परमां गतिम्।** वह परम गति को जिसे हम तुरीय, निर्विकल्प समाधि कहते हैं, ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यह भगवान् ने अपने दूसरे रूप निर्गुण-निराकार के सम्बन्ध में बताया। अब इसके बाद अर्जुन के मन में प्रश्न उठा होगा कि आपने सगुण निराकार को परम दिव्य पुरुष कहा और निर्गुण-निराकार स्थिति को परम गति कहा। आपने योगबल के द्वारा कुण्डलिनी को भ्रूमध्य में स्थित करने या प्राण को आविष्ट करने के लिए कहा। आप कहते हैं कि छठे चक्र का भेदन करके प्राण को सहस्रार में आविष्ट करें। यह तो बड़ा कठिन लगता है। आपको पाने का कोई सुगम उपाय है क्या? तब भगवान १४वें श्लोक में ऐसे एक सुगम उपाय को बताते हैं। **(क्रमशः)**

श्रद्धापूर्वक सेवा

"क्या तुमने रामकृष्ण-वचनामृत पढ़ा है। यह मैं पचासवीं बार इसे पढ़ रहा हूँ, किन्तु वचनामृत की नवीनता कभी भी कम नहीं होगी। तुम प्रतिदिन इसके कुछ अंश का पाठ करना और बार-बार पढ़ते रहना।" स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज ने यह बात एक नवयुवक से कही थी।

स्वामी विशुद्धानन्द

स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के अष्टम संघाध्यक्ष थे। वे श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य थे। मठ में सम्मिलित होने के बाद उन्हें रामकृष्ण संघ के प्रथम संघाध्यक्ष और श्रीरामकृष्ण देव के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज की सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ था। वे उनके लिए भोजन बनाने की सेवा करते थे। उन्हें भोजन बनाना पहले आता नहीं था, किन्तु दूसरों से सीख लिया था। वे स्वयं इस विषय में कहते थे, "मेरा बनाया हुआ भोजन स्वामी ब्रह्मानन्दजी पसन्द करते थे। जानते हो क्यों? क्योंकि मैं उसमें श्रद्धा को मिलाता था। मैं अपना कार्य पूरी श्रद्धा से करता था। मुझे श्रीरामकृष्ण को देखने का तो सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु उनके मानसपुत्र की सेवा करने से सन्तोष की प्राप्ति हुई।" स्वामी ब्रह्मानन्द ने उन्हें मद्रास आश्रम में स्वामी रामकृष्णानन्द को यह लिखकर उनके पास सेवाकार्य में सहायता के लिए भेजा था, 'मैं तुम्हें ऐसे साधु को भेज रहा हूँ, जिसका मन सदैव भगवान में लगा रहता है।"

स्वामी विशुद्धानन्द महाराज जी साधुओं से कहते थे, "तुम लोगों को श्रीरामकृष्ण देव, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द जैसा साँचा कहीं नहीं मिलेगा। यदि उस साँचे में तुम अपने को नहीं ढाल सके, तो यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य होगा।" एकबार किसी साधु ने उनसे पूछा, "यदि कोई उत्तरकाशी आदि स्थानों में न जाकर केवल जयरामबाटी (श्रीमाँ सारदा देवी का जन्मस्थान) में जाकर एकान्त में जप-ध्यान करे तो क्या उसे इष्ट-दर्शन होंगे? महाराज ने कहा, "अवश्य ही होंगे। क्या जयरामबाटी सामान्य स्थान है? साक्षात् माँ जगदम्बा ने वहाँ दीर्घ काल तक वास किया था। क्या वह छोटा स्थान है? यदि वहाँ ईश्वर के दर्शन नहीं होंगे, तो अन्यत्र कहाँ होंगे? OOO

भारतीय चिन्तन की देव-दृष्टि : एक ऐतिहासिक पर्यालोचन

राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(गतांक से आगे)

भारतीय संस्कृति ने मानवजीवन में धर्म और धर्म के लक्ष्यभूत ईश्वर का महत्त्व प्रारम्भ से ही समझा; इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि इस संस्कृति का निर्माण राजाओं, योद्धाओं और व्यापारियों के द्वारा नहीं हुआ। इसका निर्माण और संस्कार ऋषियों और चिन्तकों के द्वारा हुआ, जीवन की सार्थकता और पूर्णता के विषय में जिनकी दृष्टि बहुत सुस्पष्ट और पैनी थी। यह समझ लेने पर इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि इस 'सोने की चिड़िया' ने भौतिक सम्पन्नता की कामना-मुखर विलास-वीथियों के बीच से उड़ते हुए भी अन्ततः जहाँ बसेरा किया, वहाँ अध्यात्म का परम शान्तिमय निश्शब्द एकान्त था। इस देश की आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने अकारण ही यह नहीं कहा था कि 'धर्म और सेवा ही भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं और यदि भारत इन दो क्षेत्रों में सबल हो, तो शेष सब कुछ स्वयं व्यवस्थित हो जायेगा।''

वर्तमान युग की ईश्वरविषयक दृष्टि अत्यन्त लचीली और सामासिक प्रकृति की है। अब सगुण और निर्गुण ईश्वर को लेकर किसी प्रकार का विवाद नहीं है और भारतीय मूल के धार्मिक सम्प्रदायों तथा सामी मूल के धार्मिक सम्प्रदायों में ईश्वर के निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूपों की मान्यता है। ईश्वर के निर्गुण रूप की उपासना कठिन है, विशेष आध्यात्मिक समर्थ व्यक्ति के लिए ही निराकारोपासना सहज होती है। अधिसंख्य लोगों का रुझान तो परमात्मा के सगुण रूप की ओर ही होता है, अतः सभी आलोचनाओं के बावजूद प्रतीकपूजा और मूर्तिपूजा पूरे विधि-विधान के साथ समाज में प्रतिष्ठित है। सनातन हिन्दू धर्म के अनुयायियों में शिव, शक्ति, राम, कृष्ण और गणपति विशेष श्रद्धा के पात्र हैं।

आधुनिक भारतीय चिन्तन, सम्भवतः कबीर, तुलसी और रामकृष्ण परमहंस के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही, ईश्वर के साकार निराकार रूपों में एक समन्वयात्मक दृष्टि रखता है। सर्वव्यापक परमात्मा ही धर्म-स्थापना और भक्तानुकम्पा हेतु साकार रूप ग्रहण करता है, अधिकांश लोगों का यही विश्वास है। अतः ईश्वर के विभिन्न अवतारों की पूजा हिन्दू समाज में प्रचलित है। यहाँ प्रसंगतः यह कहना आवश्यक है कि सामी मूल के धर्मों की प्रतीकपूजा की अपेक्षा हिन्दू सम्प्रदायों की मूर्तिपूजा अधिक प्राणवान् और भावमयी है। मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, वे ईश्वर का प्रतीक या 'सिम्बल' मात्र नहीं है, पूजनकाल में वह परमात्मा की साक्षात् उपस्थिति है। हिन्दू समझता है कि जो निराकार दिव्य सत्ता अखिल ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है, वही करुणावश उसकी श्रद्धा स्वीकार करने के लिए इस मूर्ति के रूप में मानो साक्षात् प्रकट है, इसीलिए हिन्दू पूजा-विधान इतना विस्तृत और सांगोपांग है। स्नान, चन्दन, पुष्प-धूप-दीप, नैवेद्य आदि उपचारों से मूर्ति में आविर्भूत प्रभु की उपासना की जाती है। हृदय की समस्त श्रद्धा के साथ भावभरे मन से भक्त ये सारे उपचार मिट्टी, काष्ठ या धातु की प्रतिमा को नहीं, अपितु उस प्रतिमा के रूप में साक्षात् विराजमान अपने इष्ट को समर्पित करता है। श्रीरामानुजाचार्य ने तो श्रीरंगम् आदि के मन्दिरों में नित्यपूजित ईश्वरमूर्ति को परब्रह्म की पाँच अभिव्यक्तियों में से एक माना है। पर व्यूह विभव अन्तर्यामी और अर्चावतार में से अर्चावतार भगवन्मूर्ति ही है।

वर्तमान युग में आस्था की एक और दिशा है, जिसका उल्लेख करना समीचीन होगा। अनेक ऐसे सन्त महापुरुष और आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने श्रद्धालुओं की दृष्टि में स्वयं ईश्वर या ईश्वरीय अवतार का रूप ग्रहण कर लिया है; इसमें उनका असाधारण आध्यात्मिक उत्कर्ष ही कारण है। ऐसे महापुरुषों में तीन विशेष महत्त्वशाली हैं – सन्त कबीर, श्रीरामकृष्ण परमहंस और श्रीसाईं बाबा। सन्त कबीर को तो उनके अनुयायी 'अकालपुरुष' या परमसत्ता के रूप में ही देखते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस भी अनेक लोगों के हृदय में ईश्वर का ही स्थान ग्रहण कर चुके हैं, स्वामी विवेकानन्द ने 'अवतारवरिष्ठ' कहकर उनकी वन्दना की है। यही स्थिति शिरडी के साईंबाबा की है। यह घटना भी भारतीय मनीषा की प्रवृत्तिविशेष का ही प्रतिफल है। वह जहाँ कहीं,

जिस व्यक्ति में, जिस वस्तु में किसी प्रकार का आसाधारण ऐश्वर्य, असामान्य उत्कर्ष या विशिष्ट शक्तियाँ देखती है, वहाँ परमात्मा की विभूति और उसकी मूर्तिमान उपस्थिति का ही साक्षात्कार करती है और हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके आगे नतमस्तक होती है।

आस्था के इन स्वरों में कुछ स्वर अनास्था के भी हैं, जो स्वाभाविक हैं। सभी स्थानों, युगों में, कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो किसी संस्थागत धर्म, किसी परमसत्ता या किसी व्यक्तित्वसम्पन्न ईश्वर में आस्था नहीं रखते। किन्तु आस्था का कोई-न-कोई केन्द्र उनके जीवन में भी अवश्य होता है। आस्था का यह केन्द्र कोई विचारधारा हो सकती है, कर्तव्यबोध हो सकता है, कोई आदर्श हो सकता है या फिर व्यक्ति स्वयं भी हो सकता है। आस्था यदि हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा और पवित्रता लिए हुए हो, तो चाहे वह किसी के प्रति हो, चेतना के उस दिव्य और उदात्त स्तर तक पहुँचा ही देती है, जिसे आस्थावादी 'ईश्वर' कहते हैं। धर्म का प्राणतत्त्व भी आस्था ही है। समस्या तब होती है, जब बिना किसी मूर्त्त आधार के ये आस्थाएँ डगमगाने लगती हैं। साकारोपासना निराकारोपासना की अपेक्षा इसीलिए सहज कही गयी है, क्योंकि इन्द्रियों और मन को बाँधे रखने के लिए साधक के समक्ष ईश्वर की एक आकर्षक आश्वासनमयी अवधारणा या उसका एक मूर्त्त रूप रहता है। निराकार ईश्वर में मन लगाना कठिन कार्य है। इसीलिये उस मार्ग को 'कृपाण की धार' पर चलने के समान कहा गया है –**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति**' (कठ. १.३.१४)। विचारधारा, कर्तव्यबोध और आदर्शों पर केन्द्रित आस्थाएँ दिशाभ्रष्ट हो सकती हैं; विचारधारा परिवर्तित भी हो सकती है, स्वार्थों के साथ संघर्ष में कर्तव्यबोध पराजित हो सकता है और आदर्श अपनी कठिनता में दुस्साध्य हो सकते हैं। जहाँ तक स्वयं पर आस्था का प्रश्न है, वह यदि अनन्त सम्भावनाओं से पूर्ण अपनी चेतना के अकलुष, उज्ज्वल और अवदात रूप पर हो, तो वह निश्चय ही कृतार्थता का मार्ग है। समस्त धार्मिक-दार्शनिक चिन्तन का पर्यवसान वहीं है, किन्तु प्राय: यह आस्था अपने उस दिव्य रूप पर होती ही कहाँ है? आस्था तो होती है, कामनाओं की ग्रन्थियों में कसे हुए, क्षुद्र अहंकार से लिपटे अपने मनोभौतिक व्यक्तित्व पर, इसलिए ये सभी आस्थाएँ कभी-न-कभी भटकती हैं। इसका कारण स्वयं आस्थाएँ नहीं हैं, अपितु उनके अस्थिर परिवर्तनशील केन्द्र हैं।

भारतीय संस्कृति आस्था की संस्कृति है, श्रद्धा उसका बल है, विश्वास उसका कवच है; सन्त तुलसीदास ने मानस का मंगलाचरण करते हुए लिखा है –

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।

– श्रद्धा-विश्वास रूपी भवानी और शिव को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके आशीर्वाद के बिना सिद्ध पुरुष भी अपने अन्तस्थ परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते। सत्य जो विश्वरूप है, विश्वात्मा है, प्राणिमात्र में ही नहीं जड़-चेतन रूप समस्त विश्व-प्रपंच में व्याप्त है, उसकी अनुभूति श्रद्धा और विश्वास का सम्बल लिये बिना नहीं हो सकती। वस्तुत: आस्था ही व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से समाज का संस्कार करती है। भारत की सत्यान्वेषिणी दृष्टि ने इस आस्था का केन्द्र उस परमसत्ता को बनाया है जो अनादि और अनन्त है; शाश्वत और एकरस है और जो प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले इस जगत का नित्य अपरिवर्तनीय अधिष्ठान है।

इस विशद चर्चा के बाद भारतीय चिन्तन के ईश्वरीय दृष्टिकोण की कुछ विशिष्टताएँ उभरकर सामने आती हैं –

भारतीय संस्कृति या भारत का धर्म और दर्शन द्वैत और अद्वैत को परस्पर सर्वथा असम्पृक्त नहीं मानता। वह द्वैत का असत् या अनुपयोगी मानकर तिरस्कार नहीं करता। चूँकि वह परिवर्तनशील और अस्थिर है, इसलिए अश्रद्धेय मानता है। अस्थिर और जन्ममृत्युधर्मा स्वयं परम सत्य नहीं हो सकता। उसका आधार निश्चय ही नित्य अविकारी और अपरिवर्तनीय परम सत्य है। यह सत्य एक, अद्वैत, शाश्वत और समस्त परिवर्तनों का अपरिवर्तित अधिष्ठान है। द्वैत का नामरूपात्मक विस्तार अद्वैत की ही अभिव्यक्ति है, चाहे उसे सत्य माना जाय, चाहे प्रातीतिक। यह द्वैत उस अद्वय तत्त्व की ओर जाने का संकेत है। उस तक पहुँचने का मार्ग भी इस द्वैत-प्रपंच में से है। उस अद्वय परमात्मा की अनुभूति होने पर यह द्वैत विलीन हो जाता है। विलीन होने का अर्थ यह नहीं है कि इसका भौतिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। सिद्ध, योगी परम सत्य की अनुभूति होने पर भी इस द्वैत के संसार में ही रहते हैं। इससे ही उनके सभी जागतिक व्यवहार होते हैं। वस्तुत: द्वैत का निषेध मानसिक ही होता है। द्वैत में भी अद्वैत का दर्शन जब होने लगता है, तब द्वैत द्वैत रहता ही नहीं, अद्वैतरूप हो जाता है। इसीलिए आत्मानुभूतिसम्पन्न व्यक्ति व्यावहारिक जगत में रहते हुए भी आत्मिक स्तर पर अद्वैत में ही रमण करता है। थोड़े शब्दों में कहें, तो द्वैत की अस्वीकृति ही द्वैत का खण्डन है। **(क्रमशः)**

निष्ठा

भगिनी निवेदिता

(भगिनी निवेदिता की १५० वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में यह लेखमाला 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ आरम्भ की गई है। – सं.)

अपने जीवन में और अपने बच्चों की शिक्षा में हम मूलभूत गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करें। हम सफल हों अथवा नहीं, इसका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु सत्य, सादगी, पवित्रता, वीरता इत्यादि गुणों की लोग हमसे अपेक्षा करेंगे। ये सभी गुण मानो एक निष्ठा रूपी गुण को प्राप्त करने के ही दृढ़ प्रयास हैं। ऐसे व्यक्ति का समग्र जीवन उसके ध्येय मात्र का ही अनुसरण करता है।

इस प्रकार का धैर्य, दृढ़ता और निष्ठा ही धर्म है। यही सब व्यक्तियों और वस्तुओं का सार है। धर्म ही हमें संसार की महान शक्तियों का यन्त्र बनाता है। क्या हम इसके विपरीत बनना चाहते हैं? अन्तरात्मा के प्रचण्ड झंझावात से लड़ते हुए यह हमें एक शुष्क पर्ण के समान बना देता है। इससे श्रेष्ठतर भी कुछ हो सकता है? चाहे हमारी इन्द्रियों के द्वारा कार्य हो अथवा न हो, चाहे देवताओं के दूत हमारे जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर हमें कष्ट दें, तो भी निर्भय और अक्लान्त होकर हम निराशा के क्षणों में भी आनन्द में मग्न रहें।

निष्ठा की ही हमें सर्वाधिक आवश्यकता है। निष्ठा ही सभी उपलब्धियों की कुंजी और आधारशिला है। सभी गुणों में निष्ठा एक सरलतम गुण है और इसके परिणाम दूरगामी हैं। यदि निष्ठा और दृढ़तापूर्वक हम अव्यक्त परमात्मा पर मन लगाएँ, तो यह विजय-प्राप्ति के समान होगा। क्या निष्ठावान व्यक्ति में सत्य, पवित्रता और साहस के विपरीत कुछ रह सकता है? क्या ये सभी गुण निष्ठारूपी निर्मल-दृष्टि के परिणाम नहीं हैं? जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा की खोज में क्रमश: अग्रसर हो रहा है और उसी का चिन्तन कर रहा है, क्या उसमें असत्य, कायरता और स्थूल विषय इत्यादि रह सकते हैं?

आडम्बर, मिथ्याचार, दिखावा – ये निष्ठा के विरोधी हैं। आत्मश्लाघा करना, डींग हाँकना, कार्य-पद्धति पर ध्यान न देकर केवल उसके फल पर विचार करना – इत्यादि बातें निष्ठा को खोखला कर देती हैं और इससे हम विजय के बदले अपनी पराजय की ही तैयारी करते हैं। यही वह प्रारम्भिक आवेग है, जिसे हमें जड़ से उखाड़ फेंक देना चाहिए। यही वह शिक्षा है, जिसे हमें अपने बच्चों को भी देनी चाहिए। यही वह अत्यन्त भयावह वस्तु है, जिसका हमें त्याग करना चाहिए। संयम और विनम्रता के द्वारा, पुरुषार्थ के द्वारा अपने शब्दों के बदले कर्मों को महानतर बनाकर हमें आत्म-संस्तुति, तुच्छ प्रतिष्ठा और कुप्रसिद्धि से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु पर आघात करना चाहिए और उसकी उपेक्षा करनी चाहिए ।

आधुनिक जगत में प्रत्येक वस्तु को बढ़ा-चढ़ा कर कहने का अभ्यास हो गया है। अपने पूर्वजों के स्वाभिमान और आडम्बर-शून्य गरिमा से हम दूर चले गए हैं। उनकी निरहंकारिता की हमें अत्यन्त आवश्यकता है। किन्तु यह केवल एकमात्र मार्ग से हो सकता है। उनके समान हमें अपने से भी महान आदर्श और विचारों को ग्रहण करना होगा और मृत्यु पर्यन्त उन आदर्शों को अपना ध्येय बनाना होगा। जब हम ईश्वर रूपी बड़ी लहर में स्वयं को लीन कर देंगे, तभी हम सही अर्थों में अपने अहंकार रूपी प्रतिबिम्ब को भूल पाएँगे। इस ईश्वर रूपी बड़ी लहर के अनेक नाम हो सकते हैं, उनमें से कुछ नामों से तो हम भलीभाँति परिचित हैं। किसी भी कार्य अथवा आदर्श के लिए हम अपना जीवन लगा दें, वह इतना महान हो कि हमें अहंकार-त्याग की शिक्षा दे। अहंकार का त्याग ही ईश्वर की खोज है। ○○○
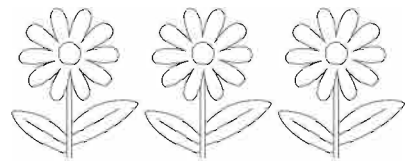
भारत की ऋषि परम्परा (१८)

स्वामी सत्यमयानन्द

वैवस्वत मनु

हिन्दू धर्म के अनुसार समय की गति रैखिक न होकर वृत्ताकार है। कालचक्र का यह स्वभाव स्वयं काल पर ही नहीं, किन्तु उसमें घटित कर्म, जीवन, मन सभी पर पड़ता है। संक्षेप में जड़-चेतन सभी पर कालचक्र का प्रभाव पड़ता है और हम जानते हैं कि यह सिद्धान्त कितना प्रत्यक्ष और तर्कसंगत है। इसके अलावा घटनाओं का रैखिक निरूपण अनेक विरोधाभास उत्पन्न कर मानवीय मन में भ्रान्ति का निर्माण करता है।

आगे का वर्णन समझने के लिए उपरोक्त प्रस्तावना थी। मनु ऋषि का नाम भारत में सुविदित है क्योंकि हम मनुष्य उनकी सन्तान हैं और वे सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के पूर्वज हैं। इसके अलावा मनुष्य शब्द की व्युत्पत्ति मन् धातु से होती है, जिसका अर्थ मनन करना होता है।

पुराणशास्त्र के अनुसार वर्तमान युग सातवें मनु अर्थात वैवस्वत मनु के अन्तर्गत आता है। इनके पूर्व के छः मनुओं का नाम था – स्वायम्भुव मनु, स्वारोचिष मनु, औत्तमी मनु, तामस मनु, रैवत मनु और चाक्षुष मनु। सृष्टि का एक कल्प ब्रह्मा के एक दिन के समान होता है। इस दिन को चौदह भागों में विभाजित करने पर उसके प्रत्येक भाग को मन्वन्तर कहते हैं, जिसके शासक मनु होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होते हैं। चार युग सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि होते हैं। एक चतुर्युग में लगभग ४३२०००० मानव वर्ष होते हैं। इसे ७१ बार गुणा करने से मन्वन्तर की अवधि प्राप्त होती है।

काल की इतनी बड़ी संख्या देखकर मस्तिष्क चकरा जाता है। किन्तु, यह भी ब्रह्मा के समुद्र रूपी आयु का बिन्दु मात्र है। जो मत यह कहते हैं कि हजारों वर्ष पूर्व ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की और कुछ ही दिनों में सब कुछ उत्पन्न कर दिया, उन्हें आधुनिक मानव, विशेषकर मानव-विज्ञानी, भूवैज्ञानिक और खगोलशास्त्री के प्रश्नों के उत्तर देना कठिन हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण, महाभारत, मत्स्य पुराण, श्रीमद्भागवत और अग्निपुराण में वैवस्वत मनु की महाप्रलय से सम्बन्धित सुन्दर कथा का वर्णन प्राप्त होता है। स्वामी विवेकानन्द इस विषय में कहते हैं, 'महाप्रलय की यह कथा बेबिलोन, मिस्र, यहूदी और चीन के लोगों में भी प्रचलित थी।'

महान ऋषि मनु एकदिन जब गंगा के किनारे तर्पण कर रहे थे, तब एक छोटी-सी मछली उनके पास आयी। उसने राजा से यह कहकर रक्षा की याचना की कि बड़ी मछली उसका भक्षण करना चाहती है। मनु ने उसे अपनी अंजलि में उठाकर कमण्डलु में डाल दिया। कुछ ही समय में वह मछली इतनी बढ़ गई कि कमण्डलु का स्थान कम पड़ गया और वह स्वयं को बड़े स्थान में रखने के लिए कहने लगी। मनु ने उसे एक मटके में डाल दिया और वहाँ भी कुछ ही समय में बढ़कर उसे मटके का स्थान कम पड़ा। मनु ने अगले दिन उसे एक सरोवर में तैरने के लिए डाल दिया, किन्तु अगली सुबह उसने सरोवर के जल को भी घेर लिया। अन्ततः मनु ने उसे सागर में डाल दिया।

तब उस बृहदाकार मत्स्य ने कहा, 'मैं सर्वेश्वर हरि हूँ। यह सम्पूर्ण जगत मेरे द्वारा प्रलयपयोधि में निमग्न हो जाएगा। एक विशाल नौका को तैयार कर उसमें समस्त ओषधियों, छोटे-बड़े सभी प्रकार के बीजों और अन्य जीवों को लेकर सपरिवार उसमें चढ़ जाना। मेरे सींग जब पानी से बाहर आएँगे, तब नाव को उसमें बाँध देना और प्रलय के शान्त होने पर बाहर आकर सृष्टि-विस्तार करना।'' इसलिए मनु के वंशज होने से हम मनुष्य कहलाते हैं।

भगवान विष्णु का यह प्रथम मत्स्यावतार था। वैवस्वत मनु का पूर्वनाम सत्यव्रत था और वे विवस्वान के पुत्र थे।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने यह योग विवस्वान को कहा था और विवस्वान ने उसे अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार गुरु-परम्परा द्वारा यह ज्ञान जगत को प्राप्त हुआ। यह वंश-परम्परा सूर्यवंश के नाम से जानी गई। सूर्यवंश के सभी राजा अयोध्यानगरी से शासन करते थे और अपनी विद्वत्ता, उदारता, न्यायपरायणता, शौर्य इत्यादि गुणों के लिए विख्यात थे। इन सबमें महानतम भगवान श्रीरामचन्द्र थे।

महाराज मनु के बारे में पौराणिक और अन्य अनेक कथाओं में से चुन कर लिखना एक कठिनतम कार्य है। एक ऋषि का चरित्र जितना अधिक महान होता है, उनके विषय में उतनी ही
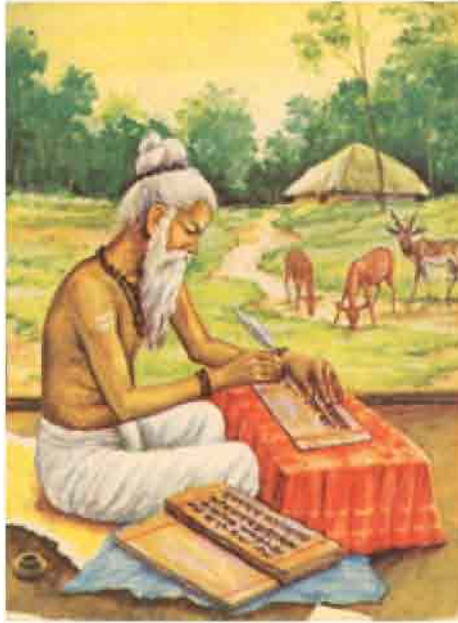
अधिक मात्रा में उपाख्यान और कथाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीनता और सत्यता की दृष्टि से भी ये कथाएँ प्रसिद्ध होती हैं।

ऋग्वेद के प्रथम भाग में राजर्षि मनु का उल्लेख प्राप्त होता है। देवीभागवत में मनु की तीन पत्नियाँ और तीन सन्तानों का उल्लेख है। यद्यपि प्रत्येक के नाम भिन्न हैं, किन्तु उनमें मनु नाम जुड़ा है। रामायण में मनु और उनकी सहधर्मिणी का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में मनु के दस पुत्र कहे गए हैं – वेन, धृष्णु, नरिष्यंत, नाभाग, इक्ष्वाकु, करुष, शर्याति, इला, पृषध्र और नाभागरिष्ठ। विष्णु पुराण में नौ नामों का उल्लेख है।

मनुसंहिता अथवा मनुस्मृति नामक प्रसिद्ध आचारसंहिता ग्रन्थ के रचयिता स्वायम्भुव मनु माने जाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इसका रचनाकाल ई. पू. ५०० का माना है। भारतीय नीतिकारों के अनुसार इस ग्रन्थ में बताए गए नियम प्रत्येक मन्वन्तर में शाश्वत हैं। स्मृतिशास्त्र की दृष्टि से यह प्रथम और प्रधान ग्रन्थ माना जाता है और इसमें विधि, कर्तव्य और मतों का वर्णन है। इसकी रचना उत्तर वैदिक काल में मानी जाती है। सहस्रों वर्षों तक इस ग्रन्थ ने मानव-जाति को मार्गदर्शन दिया है और अन्य स्मृतियाँ भी इसके आधार पर लिखी गई हैं। वर्तमान में मनुस्मृति हिन्दु विधि-नियमों की आधारशिला के रूप में मानी जाती है और इसे आदर की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस ग्रन्थ में चौबीस प्रकरणों में एक लाख श्लोक थे। नारदमुनि ने इसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। सुमति भार्गव ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्तमान मनुसंहिता में २६८५ श्लोक हैं और वे बारह अध्यायों में विभाजित किए गए हैं।

मनुस्मृति की विषय-सूची का उल्लेख किए बिना महाराज मनु का वर्णन पूर्ण नहीं होगा। ग्रन्थ के आरम्भ में सृष्टि-उत्पत्ति का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसके बाद इन्द्रियों और उनके संयम के बारे में कहा गया है। तीसरे अध्याय में गृहस्थाश्रम के कर्तव्य, विवाह सम्बन्धी नियम, नारी और बाल संरक्षण का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसके बाद ब्राह्मण के कर्तव्य, वेदाध्ययन, भोजन सम्बन्धी विधि-निषेध और नारी-शिक्षा का वर्णन है। वानप्रस्थी, तपस्वी और राजाओं के कर्तव्यों के विषय में भी महाराज मनु ने उपदेश दिए हैं। सामाजिक विधि-नियम, न्याय, कलह-शमन, नागरिक और दण्ड विधि के विषयों का भी समुचित वर्णन मनुस्मृति में प्राप्त होता है।

नौवें अध्याय में दाम्पत्य जीवन के कर्तव्य, सम्पत्ति और पैतृक सम्पत्ति से सम्बन्धित न्याय-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इसके बाद मनु महाराज ने समाज में विभिन्न जातियों और संकर जातियों के कर्तव्यों के बारे में बताया है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य मुक्ति-प्राप्ति है, इसलिए तप, व्रत-नियम और त्याग इत्यादि का वर्णन किया गया है। पाप करने वाले उचित मार्ग पर अर्गसर हों, इसलिए विभिन्न प्रकार के पापकर्म और दण्ड का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्मवाद और आत्मज्ञान का वर्णन कर महाराज मनु ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं।

यम

मृत्यु का अनुभव, उसकी अनिवार्यता और भयावहता तथा उसके साथ देहान्तर-प्राप्ति का घोर अज्ञान मानवजाति का प्रारम्भिक काल से पीछा करता आया है। मनुष्य-जाति ने इसके परिणाम से बचने के लिए अनेक मार्ग अपनाए हैं। मनुष्य सोचता है कि कदाचित जैसे-तैसे कोई इस कठोर विधान को बदल दे, किन्तु वस्तुस्थिति न जानकर वह भ्रान्ति में फँस जाता है, उसकी अवस्था अधिक दयनीय हो जाती है और तब मृत्यु अपना अन्तिम अट्टहास दिखा देती है। हमारे मनीषी और सूक्ष्मदर्शी आर्यों ने इस रहस्य के उद्घाटन के लिए दर्शन, अध्यात्म-शास्त्र और धर्म के तत्त्वों का अनुसन्धान किया और उसमें सफल हुए। उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहा, क्योंकि वे उसका मर्म जान गए थे।

कुछ ऐसे मत हुए, जिन्होंने मृत्यूपरान्त किसी भी स्थिति को नहीं माना । उनके आधुनिक वंशज अभी भी देहान्तर के विषय में किसी जिज्ञासा का विरोध करते हैं। मृत्यु होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता – यही उनकी भाग्यवादी मनोवृत्ति रहती है। भारत में पहले चार्वाकवादी भी इसी मत का प्रबल समर्थन करते थे । वे कहते थे, 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।' मनुष्य जब तक जीवित रहे, सुखपूर्वक जीये, चाहे वह किसी भी उपाय से क्यों न हो।

पाश्चात्य धार्मिक-कथाओं में मृत्यु का चित्रण लम्बा टोपीदार काला लबादा पहने हुए, रक्तरंजित बृहदाकार छेदन-अस्त्र लिए हुए एक भयानक आकृति वाले व्यक्ति के रूप में किया गया है। इसे 'ग्रिम रीपर' कहा जाता है। उसे कंकाल-उँगलियों अथवा खोखली आँखों के रूप में देखा जाता है। ये मिथ्या कल्पनाएँ केवल बच्चों की बुद्धि को चकमा देने अथवा छोटे-बड़ों की बुद्धि भ्रष्ट करने तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इन मनगढ़न्त कहानियों पर ढेरों पुस्तकें लिखी गई हैं।

हिन्दूधर्म में यमराज एक विनम्र और पक्षपातरहित न्यायाधीश की भूमिका निभाते हैं। उनका दूसरा नाम धर्म है। यम का अर्थ होता है संयमन अथवा नियंत्रण करने वाला।

वे पितृलोक के अधिपति हैं। वेदों में उनका वर्णन भयप्रद न होकर मृत्यु के देवता के रूप में है। उनका वर्णन मर्त्यलोक में प्रथम मृत व्यक्ति के रूप में आता है। परलोक-गमन के ज्ञाता होने के कारण वे जीवों को मृत्यूपरान्त मार्गदर्शन करते हैं।

भारतीय पौराणिक-शास्त्र के यमराज और यूनानी कथाओं के 'हेड्स' में कुछ समानताएँ प्रतीत होती हैं। किन्तु हिन्दूओं का यमराज के प्रति बहुत उदारभाव है, इसलिए इन समानताओं का अन्त हो जाता है। कठोपनिषद में यमराज तेजस्वी बालक नचिकेता को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।

भारतीय मानस पर श्रेष्ठ रूप से अंकित यदि यमराज की कोई हृदयस्पर्शी कथा है, तो वह कदाचित महाभारत में सावित्री और सत्यवान के सम्बन्ध में है। यमराज सावित्री के मृत पति सत्यवान को लेकर जा रहे होते हैं। सावित्री 'पिता-पिता' पुकारते हुए यमराज के पीछे-पीछे जाती है, तब यमराज की करुणा, परदुख-कातरता, ज्ञान इत्यादि गुणों का प्रकाश प्राप्त होता है। सावित्री की निष्ठा और भक्ति से प्रसन्न होकर यमराज उसे अनेक आशीर्वाद देते हैं और उसके पति सत्यवान को पुनरुज्जीवित करते हैं। इसलिए आज भी नारियाँ यम देवता की स्तुति करती हैं। मनुस्मृति में वर्णन आता है, 'विद्वानों के अनुसार धर्माचरण का परमोद्देश्य हिरण्यगर्भ, प्रजापति, धर्म (यम), महत और अव्यक्त की प्राप्ति में है।'

यम विवस्वान और संज्ञा के पुत्र थे। संज्ञा विश्वकर्मा की पुत्री थीं। यम की बहन का नाम यमी अथवा यमुना था। यम के भाई महान और प्रसिद्ध मनु थे।

यमराज का चित्रण लाल परिधान पहने और नूतन दूब सदृश हरित वर्ण वाले पुरुष के रूप में प्राप्त होता है। उनके सिर पर मुकुट और केशों पर फूल रहता है। भारी गदा धारण किए हुए वे भैंसे पर सवारी करते हैं। दूसरे हाथ में उनका प्रसिद्ध पाश रहता है, जिससे वे मृतात्माओं को पकड़ते हैं। वे दक्षिण दिशा के संरक्षक हैं। उनके पास जाने वाले मृत व्यक्ति धूम, रात्रि इत्यादि वाले दक्षिणायन, पितृयान, कृष्ण पक्ष का अनुसरण करते हैं। यम नगरी को संयमिनी अथवा यमपुरी भी कहते हैं। चार आँखों और बड़ी नाकों वाले दो कुत्ते उनकी यमपुरी के प्रवेशद्वार की रक्षा करते हैं। ....वर्ष में एकबार यम की पूजा की जाती है और प्रतिदिन उन्हें जल-तर्पण प्रदान किया जाता है।

यमराज की उपस्थिति में मृत व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्मों का मूल्यांकन किया जाता है और वे मृत व्यक्ति की आत्मा को तदनुसार अच्छे-बुरे लोकों में दण्ड अथवा सुखभोग के लिए भेजते हैं। चित्रगुप्त उन्हें इस कार्य में सहायता करते हैं। वे अपनी बही 'अग्रसन्धानी' से लोगों के पाप-पुण्य पढ़ते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु के बाद व्यक्ति की आत्मा पाँच घण्टे में यमलोक पहुँच जाती है। इसलिए शरीर का तब तक दाह संस्कार नहीं किया जाता है। वेदों के अनुसार पवित्र और पुण्यात्मा सानन्द यम के प्रकाशमय लोक में जाती है। पुराणों के अनुसार दुष्टात्मा को दण्ड के लिए नरक में भेजा जाता है । उसमें उल्लेख किए हुए नरकों को पढ़ने मात्र से व्यक्ति का रक्त जम सकता है। २८ नरकों का वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है और प्रत्येक नरक उत्तरोतर अधिक भयावह होते हैं। यहाँ पाप कर्मों को भोगा जाता है। पुराणों के रचयिता अच्छी तरह जानते थे कि किस प्रकार मनुष्यों को धर्माचरण से विमुख होने से रोका जाए।

पुराणों में यमराज से सम्बन्धित अनेक रोचक कथाओं का वर्णन प्राप्त होता है। उनके विषय में कुछ विवरण इस प्रकार हैं । यम ने रावण के चंगुल से मुक्त होने के लिए कौए का रूप धारण किया था । कौओं पर प्रसन्न होकर यम ने उन्हें श्राद्धान्न का भाग दिया था । यम एकबार श्रीराम के पास ऋषि वेश में आए। उन्होंने कहा कि वे महर्षि अतिबल के शिष्य हैं और वे श्रीराम से कुछ रहस्य कहना चाहते हैं। महाभारत में महर्षि अणिमांडव्य के शाप के कारण यमराज का जन्म विदुर के रूप में होता है। यम ने महर्षि को बिना किसी दोष के अनुचित दण्ड दिया था, इसलिए उन्हें यह शाप मिला था। ज्येष्ठ पाण्डपुत्र युधिष्ठर यमराज के पुत्र थे। उनके बीच बड़ा ही रोचक संवाद महाभारत में यक्षप्रश्न के रूप में प्राप्त होता है।

यमराज ने दासी छाया पर पदप्रहार करने के लिए अपना पैर उठाया था और छाया ने उन्हें शाप दिया कि उनका पैर घाव और कीड़ों से युक्त हो जाए। इसके निराकरण हेतु यम के पिता ने उन्हें एक मुर्गा दिया और उसने कीड़ों का खाकर उनका रोग ठीक कर दिया। सत्युग में एकबार नैमिषारण्य में वैदिक यज्ञ करते हुए यमराज इतने मग्न हो गए कि सम्पूर्ण पृथ्वी में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गई, क्योंकि उस समय किसी की भी मृत्यु नहीं हो रही थी। इसके बाद देवताओं ने उनसे विनती की कि वे अपना यज्ञ समाप्त करें और लोकों की रक्षा हेतु पुन: अपना कार्य आरम्भ करें।

यमराज की अनेक पत्नियाँ थीं। उनका नाम हेममाला, सुशीला, विजया और धूमोर्णा था। मृत्यु, काल, अन्तक, धर्मराज, श्राद्धदेव, प्रेतराज, दण्डी, शमन, कृतान्त, पाशी, पितृपति इत्यादि यमराज के नाम हैं।

धर्मशास्त्र के रचयिता यमराज माने जाते हैं। महाभारत में

शेष भाग पृष्ठ २८५ पर

भारतीय जीवन मूल्य

दुलीचंद जैन 'साहित्यरत्न'

जीवन मूल्यों का अर्थ वे भाव, तत्त्व हैं, जो मनुष्य को उत्कृष्टता की ओर ले जाते हैं। वेदों में कहा है –

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्माऽमृतं गमय।

अर्थात् हे प्रभु ! तू मुझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर ले चल। भारत की संस्कृति ने उन जीवन मूल्यों का प्रतिपादन किया, जो आधुनिक युग में भी मानव को सुखी एवं प्रसन्न बनाने में समर्थ हैं। भारतीय संस्कृति में कर्तव्य को ऊँचा स्थान दिया गया है, अधिकार को नहीं। गीता में कहा गया कि अपने कर्तव्य का पालन करना तुम्हारा अधिकार है। पश्चिम की संस्कृति के तीन तत्त्व हैं – भोग, ग्रहण और स्वार्थ। इसके ठीक विपरीत भारत की संस्कृति के तीन तत्त्व हैं – संयम, त्याग और परोपकार। प्राचीन कालीन प्रार्थना में कहा गया – सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी मंगलमय देखें, किसी को कोई दुख न हो। गीता में कहा गया – **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च** – अर्थात् जो सभी जीवों में द्वेषरहित, मैत्री एवं करुणा का भाव रखता है, वह मेरा प्रिय भक्त है।

चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चारों जीवन का संतुलित, मर्यादित विकास करते हैं। इनमें धर्म प्रथम है। धर्म द्वारा अमर्यादित अर्थ और काम आत्मघाती हो जाते हैं और मर्यादित अर्थ और काम मूल्यवान होते हैं।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों का विवेचन है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम (आत्मसंयम), अस्तेय (चोरी नहीं करना) शौच (अंतर्बाह्य पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये धर्म के दस लक्षण हैं।

जैन धर्म में धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य। ये उपरोक्त लक्षणों से काफी मिलते हैं। ये दस धर्म वस्तुतः दस मूल्य हैं, जिनके पालन से मनुष्य अपने स्वभाव में रह सकता है।

नीति के अनुसार आचरण

– नीतिशास्त्र में धर्म की विशेषता और आवश्यकता दर्शायी गयी है –

'आहारनिद्राभयमैथुनं च,

सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से रहते हैं, किन्तु धर्म (विवेकयुक्त आचरण) ही मनुष्यों को पशुओं से भिन्न बनाता है।

तमिल के महाकवि तिरुवल्लुवर ने 'कुरल' ग्रन्थ में त्रिवर्ग की उपासना का ऐसा तात्पर्य प्रतिपादित किया –

धर्म – नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

अर्थ – न्यायार्जित आर्थिक एवं राजनैतिक मूल्य

काम – मर्यादानुकूल संयमित कामना-पूर्ति वाले मूल्य

श्रेयस् और प्रेयस् – कठोपनिषद में श्रेय और प्रेय का विवेचन मिलता है। **श्रेय शुभ आचरण को कहते हैं और प्रेय इन्द्रियानुकूल आचरण को कहते हैं।** आत्मा के अपने निजी स्वभाव की खोज और उन सारे बंधनों से मुक्ति के लिये प्रयत्न, जो आत्मा को कर्म-बन्धनों से छुड़ाते हैं, श्रेयस् माने गए और इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं के सुख भोग की इच्छा प्रेयस् माने गए। प्रेय तो पशु भी अपनाते है पर श्रेय का वरण केवल मनुष्य ही करता है।

पारिवारिक संस्कार

जीवन को सुसंस्कारित करने के लिए प्राचीन काल में पाँच संस्कार केन्द्रों की स्थापना की गई थी। परिवार, पाठशाला, पावनस्थल, पुस्तकें और पंचायत। परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है और माता प्रथम शिक्षक।

परिवार की शान्ति, पारस्परिक अनुकूलता, कर्तव्य पालन, बड़ों के प्रति आदर, छोटों के लिये आत्मीय भाव, श्रमनिष्ठा, स्वच्छता, व्यवस्था, सज्जा ये सब तत्त्व बालक के जीवन में उच्च मूल्यों का निर्माण कर उसके जीवन का सर्वांगीण विकास करते हैं। परिवार के सभी सदस्य सुख-दुख में सहभागी होते हैं। वे एकात्मभाव से परिवार को एक संगठित इकाई बनाते हैं। परिवार में आध्यात्मिक वातावरण

से घर की शुद्धता और पवित्रता बालक को आशावादी बनाती है। परिवार में अतिथि को देवता मान उसका सत्कार करने से बालक शिष्टाचार सीखता है। वह स्वार्थी न होकर दूसरों में बाँटकर खाना सीखता है।

आज ये पारिवारिक मूल्य खंडित और कमजोर हो रहे हैं।

नैतिक मूल्य

प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक मूल्यों की शिक्षा देनी भी आवश्यक है। नैतिक मूल्यों से अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति ज्ञानयुक्त श्रद्धा, राष्ट्र एवं समाज के प्रति प्रेम एवं सेवाभाव, नि:स्वार्थपरता, साहस, निर्भयता, सहयोग आदि सद्‌गुणों का विकास होता है। संयम और शील का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नैतिक मूल्य आध्यात्मिक संस्कारों की आधारशिला हैं।

सत्संगति

मनुष्य के जीवन में संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है। अत: कुसंगत से बचना चाहिए, अच्छे मित्रों की संगति करनी चाहिए। सत्यवादी, व्यसनी, कलहप्रिय, हठी, दुराग्रही का संग कदापि न करें। सज्जनों के सान्निध्य में रहने से मन के संकल्प तथा विकल्प शान्त हो जाते हैं। संत तुलसीदास सत्संग की महिमा के बारे में कहते हैं –

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।

तूल न ताहि सकल मिली, जो सुख लव सतसंग।।

ऋषि दयानन्द जब जेहलम में थे, तब वहाँ महंत अमीचन्द बहुत सुंदर भजन गाते थे। स्वामीजी ने एक दिन उनका गीत सुनकर कहा, 'अमीचन्द तुम हो तो हीरे, किन्तु कीचड़ में पड़े हो।' निशाना ठीक बैठा। इस एक वाक्य ने उनका जीवन बदल दिया। उनके सारे व्यसन छूट गए। ऐसा ही मुंशीराम के साथ हुआ। वे स्वामी श्रद्धानन्द बन गए। जीवन में सफलता प्राप्त करने के तीन संबल हैं – स्वाध्याय, सत्संग और सत्कर्म।

इच्छाओं को सीमित करें

प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा जीवन में आनन्द लेने की होती है। किन्तु इसे कैसे प्राप्त करें? इच्छाओं की वृद्धि या इच्छाओं को सीमित करके। आचार्यों ने कहा, इच्छाएँ अनन्त, असीमित हैं, उनकी पूर्ति असम्भव है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव है, इच्छाओं की नहीं। अत: मनुष्य को अपनी इच्छाओं को सीमित करना चाहिए। प्रकृति के संसाधन भी सीमित हैं, अत: उनका भी संतुलित उपयोग करना चाहिए। ईशोपनिषद् में कहा गया कि इस सृष्टि में जो भी चल-अचल वस्तु है, वह ईश्वरमय है। अत: मनुष्य वस्तु का सन्तुलित न्यूनतम उपयोग करे तथा दूसरों की सम्पत्ति का लालच न करे। 'सादा जीवन और उच्च विचार' हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

कृतज्ञता

जो व्यक्ति हमारी मदद करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना उदात्त मानवीय मूल्य है। इसीलिये हमारे देश में पशुओं और वनस्पतियों की पूजा का विधान किया गया। गाय को 'गोमाता' के रूप में पूजा जाता है। आयुध पूजा के दिन उन सभी आयुधों की पूजा की जाती है, जिनका प्रतिदिन कृषि एवं उद्योग धंधे में उपयोग किया जाता है।

नि:स्वार्थ सेवा या परोपकार

सेवा या परोपकार मनुष्य जीवन का महान मूल्य है। जिस प्रकार वृक्ष अपना फल स्वयं नहीं खाते, नदियाँ अपना जल स्वयं नहीं पीती, गायें अपना दूध स्वयं नहीं पीती, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर का निर्माण भी परोपकार के लिए हुआ है। व्यक्ति किसी भी व्यवसाय या उद्यम में हो, उसे दूसरों की मदद करने का प्रयास करना चाहिए।

आचार्य भर्तृहरि ने कहा है –

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।'

अत: हमें विद्या, ज्ञान, शील, दान आदि गुणों को अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करना चाहिए। ये जीवन के श्रेष्ठ मूल्य हैं। इन्हीं के द्वारा व्यक्ति जीवन में अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। ○○○

पृष्ठ २७१ का शेष भाग

परिवर्तन होता है। उनका मूल विषय रसायनशास्त्र था, किन्तु उन्होंने भौतिकशास्त्र में भी वैज्ञानिक कार्य किए।

लुहार कुल में जन्मा एक सामान्य बालक अपने परिश्रम और लगन से एक महान वैज्ञानिक बना। उन्हें विज्ञान जगत में 'सर' की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा गया। किन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि, ''मैं जीवन पर्यन्त साधारण माइकेल फैराडे ही रहना चाहता हूँ।'' ○○○

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (१८)

स्वामी भास्करानन्द

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

रामकृष्ण संघ की परम्परा

रामकृष्ण संघ में मेरे सम्मिलित होने के एक या दो महीने में यह घटना घटी थी। उस समय मेरी धारणा थी कि जप-ध्यान और शास्त्र-अध्ययन करना आश्रम के अन्य कार्यों से श्रेष्ठतर है। एक दिन सुबह किसी उत्सव के उपलक्ष्य में साधु और भक्तवृन्द हारमोनियम, ढोल, करताल आदि लेकर मन्दिर में भजन गा रहे थे। मैं मन्दिर में कुछ समय बैठा, लेकिन मैंने सोचा कि भजन गाने से अच्छा है कि मैं अपने कमरे में ध्यान या शास्त्र-अध्ययन करूँ। अत: मैं वापस अपने कमरे में आकर पुस्तक पढ़ने लगा। कुछ देर बाद आश्रम के व्यवस्थापक स्वामी कृष्णात्मानन्द जी महाराज (१९०६-१९९६) मेरे कमरे में आये। तब उनकी आयु साठ वर्ष थी। उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम यहाँ अकेले क्या कर रहे हो? अन्य लोग मन्दिर में भजन गाकर कितना आनन्द ले रहे हैं !"

मैंने उत्तर दिया, "महाराज, मुझे उस प्रकार भजन में अधिक आनन्द नहीं आता। सामूहिक गायन से मेरा मन चंचल हो जाता है। संगीत की तेज लय एवं उच्च स्वर मेरे मन को क्षुब्ध कर देती है। मुझे अपने कमरे में शान्ति से शास्त्र-अध्ययन या ध्यान करना अधिक अच्छा लगता है।"

महाराज ने कहा, "लेकिन यह हमारे संघ की परम्परा नहीं है। हमें तीखी, रसदार और खट्टी-मीठी सब्जी अर्थात सभी भावों में रहना होगा । हमें एकांगी नहीं होना चाहिए।" इसके बाद वे कमरे से चले गये।

स्वामी कृष्णात्मानन्द जी महाराज एक आदर्श संन्यासी थे। मैं उन्हें बहुत आदर करता था। उनकी बात सुनकर मैं सोचने लगा। थोड़े आत्मनिरीक्षण से मुझे लगा कि मैं अनजाने में ही अपने मिथ्या अहंकार को बढ़ा रहा था। मैं स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठतर मानता था क्योंकि मैं ध्यान को अधिक महत्त्व देता था। आत्मपरीक्षण करने से मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि संन्यासी और भक्त मन्दिर में किसी विशेष उद्देश्य से आनन्दपूर्वक भजन गा रहे हैं। वे ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए गा रहे हैं। उनका भजन ईश्वर की पूजा है। मैं शीघ्रता से मन्दिर गया और सम्पूर्ण मन से भजन-मंडली के साथ भजन गाने लगा।

निरर्थक परामर्श

सुबोध बाराल नामक मेरा एक मित्र था। वह श्रीरामकृष्ण का भक्त था और प्राय: स्थानीय श्रीरामकृष्ण आश्रम में आता था। उसने मुझे यह घटना बतायी थी –

एक दिन वह अपने किसी मित्र के साथ आश्रम में गया। जब वे दोनों आश्रम के बैठक-कक्ष में बैठे थे, तो विभिन्न विषयों पर चर्चा करने लगे। 'आध्यात्मिक विकास कैसे किया जाए' – इस विषय पर चर्चा करते समय दोनों में मतभेद हो गया। सुबोध के मित्र ने कहा कि केवल आध्यात्मिक विकास से ही संसार में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं मिल सकती। जीवन में सांसारिक उन्नति के लिये कठोर परिश्रम और सम्यक प्रेरणा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुबोध बाराल का विचार इससे भिन्न था। भक्त होने के कारण उसका विचार था कि मानव जीवन में आध्यात्मिक उन्नति ही अधिक लाभदायक है। दोनों के विचार भिन्न थे, इसलिए वे आपस में वाद-विवाद करने लगे। यह वाद-विवाद लगभग एक घण्टे तक चला। उसके बाद सुबोध का मित्र चला गया।

एक संन्यासी समीप के कमरे में थे। उन्होंने उनका पूरा वार्तालाप सुना। कमरे से बाहर उन्होंने आकर सुबोध से कहा, "तुम्हारी बातें सुनने के लिए क्षमा चाहता हूँ। निश्चित ही बड़ी रोचक चर्चा थी। लेकिन मैंने देखा कि कि लगभग एक घण्टे तक तुम ऐसे व्यक्ति को परामर्श दे रहे थे, जो तुम्हारे परामर्श को नहीं मानने का दृढ़निश्चय कर चुका था। मुझे लगता है कि तुम लोगों ने केवल अपना समय नष्ट किया।"

महाराज के बातों से सुबोध बाराल बहुत प्रभावित हुआ। उसे लगा कि स्वामीजी ठीक कह रहे हैं। तब से सुबोध बाराल ने दूसरों को अनावश्यक परामर्श देना बन्द कर दिया।

सेवा का रहस्य

मैं रामकृष्ण संघ के शिलाँग आश्रम में ब्रह्मचारी के रूप में सम्मिलित हुआ। मेरा यह सौभाग्य था कि तत्कालीन आश्रमाध्यक्ष स्वामी सौम्यानन्द जी महाराज (१८९५-१९७७) के साथ मैंने कुछ वर्ष व्यतीत किये। तब उनकी आयु लगभग सत्तर थी। वे एक आदर्श संन्यासी थेऔर विलक्षण गुणों से सम्पन्न थे। मैं उन्हें बहुत श्रद्धा करता

था। उनके चित्ताकर्षक प्रसन्न मुखमंडल से पवित्रता एवं प्रेम प्रस्फुटित होता रहता था।

आश्रम के भोजनालय में सेवा करना – यह मुझे दी गई पहली सेवाओं में से एक थी । स्वामी सौम्यानन्द जी महाराज को पित्ताशय (defunct gall bladder) की बीमारी थी और चिकित्सक ने उनको वसामुक्त आहार खाने के लिए परामर्श दिया था। मैं स्टीम कुकर में पथ्य-आहार बनाकर उनके कमरे में दे देता था।

वेतनभोगी मेहतर शौचालयों की अच्छी तरह सफाई नहीं करते थे। इसलिए हम नवागत ब्रह्मचारियों ने शौचालय-सफाई की जिम्मेदारी ले ली। हमलोगों ने ऐसी सफाई की कि बेसीन और शौचालय के फर्श हमेशा साफ-चमकते रहते थे।

शौचालय का उपयोग करने के बाद पानी डालने के लिए ऊपर टंकी (फ्लश टैंक) से लटकते हुए हेन्डल को खींचने से पानी आता था । नल की त्रुटि के कारण टंकी से पानी हमेशा गिरता रहता था। अत: उसका कोई उपयोग नहीं था। इसलिए स्नानागार से बालटी लाकर शौचालय में पानी डाला जाता था। बालटी स्टील की थी। किन्तु समय बीतते उसकी परत निकलकर उसमें जंग लग गई थी।

हमें सिखाया गया था कि आश्रम का सब कुछ श्रीरामकृष्ण का है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु का उपयोग बहुत सावधानी से करना है । किसी भी वस्तु को नष्ट नहीं करना है। स्नानागार की बालटियों में प्राय: कुछ पानी बच जाता था। मैंने सोचा कि जब बालटियों का उपयोग न हो तब उनसे पानी निकालकर सूखा रखना चाहिए। इससे बालटियों में जंग नहीं लगेगी। इसलिए स्नानागार के प्रयोग के बाद मैं बालटी को उलटा करके रख देता था।

एक बार जब मैं स्वामी सौम्यानन्द जी महाराज को दोपहर का भोजन परोस रहा था, तो उन्होंने मुझसे पूछा, ''आज सुबह मैंने देखा कि स्नानागार का प्रयोग करने के बाद तुमने बालटी उलटी रख दी है। ऐसा क्यों किया तुमने?''

मैंने कहा , ''महाराज, आश्रम का सब कुछ, यहाँ तक कि बालटी भी श्रीरामकृष्ण की संपत्ति है। हमें ऐसा करना चाहिए, जिससे कोई भी वस्तु नष्ट न हो। स्नानागार की बालटी में जंग न लगे, इसलिए उसे उलट देता हूँ, जिससे उसमें एक बूँद पानी भी न रहे।''

महाराज ने कहा, ''तुम्हारा भाव ठीक है। लेकिन मैं तुम्हे एक बात बताना चाहूँगा । हम यहाँ आश्रम में सबकी इस भाव से सेवा करने आए हैं कि उन सबमें साक्षात ईश्वर विराजमान हैं । लेकिन जिन साधुओं के साथ हम रहते हैं, वे लोग किसी से सेवा नहीं लेना चाहते। इसलिए मैं तुम्हें बताना चाहूँगा कि कैसे हम दूसरों की इस प्रकार सेवा करें कि उन्हें ज्ञात भी न हो। स्नानागार का प्रयोग करने के बाद, जैसा तुम करते हो, फर्श को पोंछ दो और तदनन्तर बालटी में पानी भरकर रख दो। जो साधु तुम्हारे बाद स्नानागार में जायेंगे, उन्हें वह साफ मिलेगा और तुम्हारे द्वारा पानी से भरी बालटी का भी वे उपयोग कर सकेंगे। इस प्रकारतुम्हारे द्वारा उनकी मौन सेवा होगी।''

स्वामी सौम्यानन्द जी महाराज अब जीवित नहीं हैं। लेकिन उनकी शिक्षा मेरे हृदय में स्थायी रूप से अंकित हो गई है। इस घटना ने मुझे जब भी अवसर मिला, प्रशंसारहित सेवा करने की प्रेरणा दी। **(क्रमश:)**

पृष्ठ २८१ का शेष भाग

यमराज धर्म पर उपदेश देते हैं। एक अन्य वर्णन के अनुसार वे ऋषि गौतम को धर्म सम्बन्धी गूढ़ बातें कहते हैं। यम भगवान शिव के भक्त हैं। भगवान विष्णु ने यम को शिव-सहस्रनाम स्तोत्र की शिक्षा प्रदान की थी। **(क्रमश:)**

प्रभु मुझे यह वरदान देना

मोहनसिंह मनराल

प्रभु मुझे यह वरदान देना, निज चरणों में स्थान देना ।
तुम आने से जीवन में, अर्थ मिल गया जीने को ।
बन्धन बीच मुक्ति की प्यास, अमृत मिल गया पीने को ।।
मेरा विषय-विकार हर लेना ।। प्रभु मुझे ...
झूठी चिन्ता झूठा भय, झूठा है अभिमान हमारा,
झूठी माया झूठी काया, साँचा केवल नाम तुम्हारा,
मेरा हाथ छोड़ न देना ।। प्रभु मुझे ...
व्यर्थ समय कभी न बीते, व्यसनों का दानव न जीते ।
काम-क्रोध के पास न जाऊँ, सदा तुम्हारा ही गुण गाऊँ ।
मेरी नइया तुम ही खेना ।। प्रभु मुझे ...
चलता रहूँ न लूँ विश्राम, नाम जपूँ सुबह और शाम ।
जो भी पाऊँ तुमसे पाऊँ, और हाथ न कहीं फैलाऊँ ।
मेरी परीक्षा कभी न लेना ।। प्रभु मुझे ...

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ।।४०।।

पदच्छेद – *रूप-वर्णादिकम् सर्वम् विहाय परमार्थवित् परिपूर्ण चित्-आनन्द-स्वरूपेण अवतिष्ठते ।*

अन्वयार्थ – **परमार्थवित्** परमार्थ को जाननेवाला **सर्वम्** सम्पूर्ण **रूप-वर्णादिकम्** रूप-रंगोंवाले जगत् को **विहाय** त्यागकर, (अपने) **परिपूर्ण** परिपूर्ण **चित्-** चैतन्य तथा **आनन्द-** आनन्द **स्वरूपेण** स्वरूप में **अवतिष्ठते** अवस्थान करता है ।

श्लोकार्थ – परमार्थ को जाननेवाला, सम्पूर्ण नाम-रूप आदि वाले जगत् को त्यागकर, (अपने) परिपूर्ण चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप में अवस्थान करता है ।

ज्ञानज्ञातृज्ञेयभेदः परे नात्मनि विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव तत् ।।४१।।

पदच्छेद – *ज्ञान-ज्ञातृ-ज्ञेय-भेदः परे न आत्मनि विद्यते चित्-आनन्दैकरूपत्वात् दीप्यते स्वयम् एव तत् ।*

अन्वयार्थ – **तत्** वह (परम आत्मा) **चित्-** चैतन्य तथा **आनन्द-** आनन्द (के साथ) **एकरूपत्वात्** अभिन्न होने के कारण, **स्वयम्** स्वयं **एव** ही **दीप्यते** प्रकाशित होता है, **परे** परम **आत्मनि** आत्मा में **ज्ञान-** ज्ञान, **ज्ञातृ-** ज्ञाता (और) **ज्ञेय-** ज्ञेय का **भेदः** भेद **न विद्यते** नहीं होता ।

श्लोकार्थ – वह परम आत्मा चैतन्य तथा आनन्द के साथ अभिन्न होने के कारण, स्वयं ही प्रकाशित होता है; उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (जाननेवाला, जानने की क्रिया और जानने की वस्तु) का भेद नहीं होता ।

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ।।४२।।

पदच्छेद – *एवम् आत्मा अरणौ ध्यान-मथने सततं कृते, उदितौ अगति-ज्वाला सर्व अज्ञान-इन्धनम् दहेत् ।*

अन्वयार्थ – **एवम्** इस प्रकार **आत्मा-अरणौ** आत्मा-रूपी अरणी में, **सततं** निरन्तर **ध्यान-मथने** ध्यान-रूपी मन्थन **कृते** किये जाने पर, **अगति-ज्वाला** ज्ञान-रूपी प्रचण्ड ज्वाला **उदितौ** प्रकट होकर **सर्व** समस्त **अज्ञान-इन्धनम्** अज्ञान-रूपी ईंधन को **दहेत्** जला डालती है ।

श्लोकार्थ – इस प्रकार आत्मा-रूपी अरणी में, निरन्तर ध्यान-रूपी मन्थन किये जाने पर, ज्ञान-रूपी प्रचण्ड ज्वाला प्रकट होकर समस्त अज्ञान-रूपी ईंधन को जला डालती है ।

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ।।४३।।

पदच्छेद – *अरुणेन इव बोधेन पूर्वम् सन् तमसे हृते ततः आविर्भवेत् आत्मा स्वयम् एव अंशुमान इव ।*

अन्वयार्थ – **अरुणेन** सूर्योदय के **इव** समान, **बोधेन** ज्ञान होने के **पूर्वम्** पूर्व, **तमसे** अन्धकार का **हृते सन्** नाश हो जाने पर, **ततः** उसके उपरान्त **अंशुमान** सूर्य के **इव** समान **आत्मा** आत्मा **स्वयम्** स्वयं **एव** ही **आविर्भवेत्** प्रकट हो जाती है ।

श्लोकार्थ – सूर्योदय के आगमन के समान, ज्ञान होने के पूर्व, (अज्ञान-) अन्धकार का नाश हो जाने के बाद, सूर्य के समान आत्मा स्वयं ही प्रकट हो जाती है ।

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ।।४४।।

पदच्छेद – *आत्मा तु सततम् प्राप्तः अपि अप्राप्तवत् अविद्यया तत् नाशे प्राप्तवत् भाति स्व-कण्ठाभरम् यथा ।*

अन्वयार्थ – **आत्मा** आत्मा **तु सततम्** निरन्तर **प्राप्तः** प्राप्त है, **अपि** तो भी **अविद्यया** अज्ञान के कारण **अप्राप्तवत्** अप्राप्त के समान **भाति** प्रतीत होती है, **तत् नाशे** उस (अज्ञान) का नाश हो जाने पर **प्राप्तवत्** प्राप्त हुई-सी (लगती है), **यथा** जैसे **स्व-कण्ठाभरम्** अपने गले का आभूषण ।

श्लोकार्थ – जैसे अपने गले का खोया हुआ हार गले में ही मिल जाता है, वैसे ही आत्मा निरन्तर प्राप्त है, तथापि अज्ञान के कारण अप्राप्त के समान प्रतीत होती है और अज्ञान का नाश हो जाने पर प्राप्त हुई-सी लगती है ।

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

९८. आनुवंशिकता का उत्पीड़क सिद्धान्त

मैं प्राय: ही देखता हूँ कि यदि कोई हमारे देश के पिछड़े निर्धन लोगों की उन्नति के दायित्व के विषय में सहानुभूति के दो शब्द भी कहे, तो लोग अपनी आधुनिक शिक्षा की डींगें हाँकने के बावजूद तत्काल पीछे हट जाते हैं । इतना ही नहीं, मैं यह भी देखता हूँ कि ये लोग पाश्चात्य देशों के आनुवंशिक संक्रमणवाद (Hereditary transmission) आदि कच्चे सिद्धान्तों के आधार पर ऐसी दानवीय और क्रूर युक्तियाँ पेश करते हैं, जिनसे कि उन्हें इन पिछड़े लोगों के उत्पीड़न तथा अत्याचार का समर्थन मिल सके ।

अमेरिका में जो धर्म-महासभा हुई थी, उसमें अन्य जातियों तथा सम्प्रदायों के लोगों के साथ ही एक अफ्रीकी निग्रो युवक भी आया था । उसने एक बड़ा ही सुन्दर व्याख्यान दिया था । मेरे मन में उस युवक के प्रति काफी आकर्षण हुआ और मैं बीच-बीच में उसके साथ बातचीत करने लगा, परन्तु उसके बारे में कुछ मालूम नहीं हो सका ।

थोड़े समय बाद इंग्लैंड में मेरी कुछ अमेरीकियों से मुलाकात हुई । उन लोगों ने मुझे बताया कि वह युवक मध्य अफ्रीका के एक निग्रो सरदार का पुत्र है । किसी कारण उसके पिता का वहीं के एक अन्य निग्रो सरदार के साथ झगड़ा हो गया । उसने इस युवक के माता-पिता को मार डाला और दोनों का मांस पकाकर खा गया । उसने इस लड़के को भी मारकर इसका मांस पकाकर खाये जाने का आदेश दे दिया था, परन्तु यह वहाँ से भाग निकला और बड़ी कठिनाई झेलते हुए कई सौ मील का रास्ता तय करके समुद्र के किनारे जा पहुँचा । वहाँ से एक अमेरिकी जहाज पर सवार होकर वह यहाँ आ पहुँचा । उसी निग्रो युवक ने इतना सुन्दर व्याख्यान दिया था ! इसके बावजूद, अब मैं तुम लोगों के आनुवंशिकता के सिद्धान्त पर भला कैसे विश्वास करूँ? (५/८६-८७)

९९. भिखारी सारी दुनिया

एक बार एक राजा किसी वन में गये । वहाँ उन्हें एक साधु मिले । साधु से थोड़ी देर बातचीत करके राजा उनकी पवित्रता तथा ज्ञान पर बड़े मुग्ध हुए । राजा ने उनसे प्रार्थना की, ''महाराज, यदि आप मुझसे कोई भेंट ग्रहण करने की कृपा करें, तो मैं धन्य हो जाऊँ ।'

साधु ने मना करते हुए कहा, ''इस जंगल के फल मेरे लिए पर्याप्त हैं, पहाड़ों से निकले हुए शुद्ध पानी के झरने पीने को पर्याप्त जल उपलब्ध करा देते हैं, वृक्षों की छालें मेरे शरीर को ढकने के लिए यथेष्ट हैं और पर्वतों की गुफाएँ रहने के लिये काफी हैं । मैं तुमसे या अन्य किसी से भी कोई भेंट क्यों लूँ?''

राजा बोले, ''महाराज, केवल मुझे कृतार्थ करने के लिए ही कुछ अवश्य स्वीकार कर लीजिए और कृपा करके मेरे साथ चलकर मेरी राजधानी तथा महल में पधारिये ।''

बहुत आग्रह के बाद आखिरकार साधु ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनके साथ राजमहल में गये ।

साधु को भेंट देने के पहले राजा अपनी दिनचर्या के अनुसार प्रतिदिन की प्रार्थना करने लगे । वे बोले, ''हे ईश्वर, मुझे और अधिक सन्तान दो, मेरा धन और बढ़े, मेरा राज्य और भी फैल जाय, मेरा शरीर और भी स्वस्थ तथा नीरोग रहे,'' आदि आदि ।

राजा की प्रार्थना अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि साधु उठ खड़े हुए और धीरे से कमरे के बाहर चल दिये ।

यह देखकर राजा बड़े असमंजस में पड़े और चिल्लाते हुए साधु के पीछे भागे, ''महाराज, आप कहाँ जा रहे हैं, आपने तो अभी तक मेरी भेंट भी नहीं ग्रहण की है ।'

साधु ने मुड़कर राजा की ओर देखा और बोले, ''मैं भिखारियों से भिक्षा नहीं लेता । जब तू स्वयं ही एक भिखारी है, तो फिर मुझे कैसे कुछ दे सकता है ! मैं इतना मूर्ख नहीं कि तुझ जैसे भिखारी से कुछ लेने की बात सोचूँ । जा, दूर हो जा, मेरे पीछे मत आ ।'' (४/६३-६४)

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (१०)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

शरणागत भक्त और कृपा

जो भगवान पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर होते हैं, ऐसे शरणागत भक्तों के लिये भगवान की कृपा निरन्तर बहती रहती है। ऐसे भक्त कभी यह सोचते ही नहीं हैं – "पाप करें, तो उसका दायित्व मेरा नहीं भगवान का है।" उनके मन में पाप का विचार भी नहीं आता है। जैसे निष्णात नर्तक के पैर कभी बेताल नहीं पड़ते, वैसे ही भगवान के अधीन भक्त की चेतना भगवान के साथ एकाकार होने से वह कभी दुराचरण नहीं करता है। जीवन के सभी सुख-दुख को भगवान का प्रसाद मानकर उसे आनन्द से स्वीकार करता है। नरसिंह मेहता के जीवन में अनेक दुख आए, इकलौता पुत्र मर गया, भक्तिमती सती-साध्वी पत्नी की मृत्यु हो गई, तब भी जरा भी विचलित हुए बिना या भगवान से शिकायत किये बिना उन्होंने गाया, "भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजशुं श्रीगोपाल।" अर्थात् अच्छा हुआ, जंजाल छूट गया, अब सुखपूर्वक गोपाल का भजन करूँगा। सम्पूर्ण शरणागत भक्तों की ऐसी भावना होती है। उनमें ऐसी अटूट श्रद्धा होती है कि भगवान जो कुछ करते हैं, वह मंगलमय ही होता है। इसलिये दुख में भी उन्हें भगवान की कृपा का अनुभव होता है। सामान्य लोगों को जो दुखरूप लगता है, वह भक्तों को नहीं लगता है। प्रह्लाद, सुधन्वा, नरसिंह मेहता, मीराबाई, सूरदास आदि भक्तों को सामान्य लोगों की दृष्टि से कितना अधिक दुख था। परन्तु भगवान के सम्पूर्ण शरणागत होने से उन्हें कोई दुख नहीं लगता था। वे भगवान की इच्छा मानकर सभी दुख स्वीकार कर लेते थे। ऐसे भक्तों का सारा योग-क्षेम भगवान वहन करते हैं, उनके लिये ही कृपा का मार्ग खुल जाता है। भगवान की कृपा अनेक जन्मों के बन्धनों को एक ही जन्म में काट देती है। इस भगवत्कृपा के नियम के कारण ही दुष्ट से दुष्ट, पापी से पापी और अधम से अधम व्यक्ति के लिये दिव्यता के द्वार खुले रहते हैं। मानव को कृपापात्र बनने के लिये सतत प्रयत्न करना चाहिये।

५. मुझ-सा बुरा न कोय

यदि हम अपने जीवन का निरीक्षण करें, तो पायेंगे कि हमारी मानसिक अशान्ति का कारण दूसरों के दोष देखने की आदत है। अधिकांश लोगों का स्वभाव दूसरों में दोष निकालने का होता है। जो सदा दूसरों के दोष देखते रहते हैं उनका स्वयं का जीवन दोषपूर्ण हो जाता है। क्योंकि दूसरों की भूलों को, दोषों को, सतत देखते-देखते, उनका ध्यान करते-करते, दूसरे से उनकी सरस चर्चा करते हुए उनका मन निरन्तर उन दोषों में ही मग्न रहता है। इसलिये वे दोष उनकी चेतना में संक्रमित हो जाते हैं। श्रीमद्भावत में कहा है, **'याति तत् तत् सरूपताम्'** – अर्थात् मनुष्य जिसका ध्यान करता है, चिंतन करता है, वह वैसा ही बन जाता है। दूसरों के दोषों का ध्यान करनेवाला, वैसा ही दोषी बन जाता है। इससे वह अपने मन की शान्ति तो खोता ही है, साथ ही दूसरों की शान्ति भी हर लेता है।

'उसे तो कुछ आता नहीं है, केवल बड़ी-बड़ी बातें करता है', "वह तो बहुत कंजूस है"। "उसके तो खाने के दाँत अलग और दिखाने के अलग हैं, क्या मैं उसे नहीं जानता?" "काम कुछ करना नहीं और प्रदर्शन ऐसा करना कि मुझे सब कुछ आता है।'– ऐसे दोषारोपण घर, बाहर, ऑफिस, बैंक, समाज में, लगभग प्रत्येक स्थान पर होते ही रहते हैं। जहाँ दृष्टि ही दूसरों के दोष देखने वाली हो गई हो, वहाँ किसी का कुछ अच्छा नहीं दिखता है। यदि मनुष्य अपने समय का विश्लेषण करे, तो उसके फुर्सत के समय का अधिकांश भाग दोष-दर्शन में ही बीत जाता है। जहाँ मन दूसरों के दोषों से भरा हुआ हो, ऐसे मन में शान्ति कहाँ से आएगी? शान्ति को आने के लिये स्थान तो चाहिये न। यहाँ तो दूसरों को क्या करना चाहिये, कैसे रहना चाहिये, दूसरों से ही मन भरा होता है, वहाँ स्वयं के लिये स्थान ही कहाँ है? इस सन्दर्भ में एक संत ने कहा था, यह ध्यान रखो, जब तुम दूसरों के सामने अंगुली दिखाते हो, तब एक अंगुली तो उसकी ओर होती है, किन्तु तीन अंगुलियाँ तुम्हारी अपनी ओर होती है। अर्थात् जो अवगुण दूसरों में है उससे तीन गुणा अवगुण तुम्हारे अन्दर हैं, उनको पहले देखो। संत कबीरजी ने भी कहा है –

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।

जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

संत कबीर बुरे व्यक्ति की खोज में निकले, तो उन्हें कोई बुरा नहीं मिला। जब उन्होंने अन्तर्निरीक्षण किया, तो पाया कि उनके जैसा खराब तो दूसरा कोई नहीं है। अर्थात् हमें दूसरों के दोष न देखकर अपने दोष देखने चाहिये।

श्रीमाँ सारदादेवी ने अपनी महासमाधि के तीन दिन पूर्व एक भक्त महिला को उपदेश देते हुए कहा था, ''बेटी, यदि शान्ति चाहती हो, तो दूसरों के दोष मत देखना, अपने दोष देखना। इस जगत में कोई पराया नहीं है, सब अपने हैं।'' सच है, जो जगत में सबको अपना मानते हैं और किसी में दोष नहीं देखते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता, उद्वेग नहीं होता। परदोष-दर्शन जैसी निरर्थक बातों में उनका समय या शक्ति व्यर्थ नहीं जाते। समय और शक्ति का उपयोग अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये करने से वे अपने जीवन में तेजी से विकास कर सकते हैं। मन में किसी के दोषों का कूड़ा-कचरा न होने से, मन स्वच्छ, स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। व्यक्ति अपने दोषों के प्रति सजग रहने से अपनी दुर्बलताओं को दूर करने में प्रयत्नशील होता है। जैसे-जैसे मनुष्य अपने दोषों को दूर करता जाता है, वैसे-वैसे जीवन में उसे अधिक से अधिक आनन्द प्राप्त होता जाता है। महात्मा गाँधी के कमरे में तीन बन्दरों की मूर्ति थी, उसमें एक ने दोनों हाथों से आँखें बन्द कर रखी थीं, दूसरे ने दोनों हाथों से कान बन्द कर रखे थे, तीसरे ने दोनों हाथ मुँह पर रखे हुए थे। ये शिक्षा देते हैं कि बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो और बुरा मत बोलो। यदि मनुष्य अपने जीवन में इन तीन बन्दरों की बात चरितार्थ करे, तो उसके जीवन में शान्ति तो मिलती ही है, साथ में जीवन का आनन्द भी मिलता है।

६. निन्दक नियरे राखिये

सामान्य लोगों के मन में हमेशा एक डर रहता है कि 'लोग क्या सोचेंगे, लोग क्या कहेंगे?' ऐसे लोग अपने ढंग से नहीं जीते हैं। दूसरे निन्दा न करें, इस डर से न चाहते हुए भी वे लोग दूसरों के अनुसार जीते हैं। उदाहरणार्थ – एक व्यक्ति सामान्य क्लर्क है। उसे अपने दो बेटों को पढ़ाना है, पर बड़ी बेटी की शादी भी करनी है। समाज में आलोचना न हो, इसलिये वह प्रोव्हीडेन्ट फंड में से कर्ज लेकर लाखों रुपये विवाह में खर्च करके जीवनभर आर्थिक कठिनाई से बिताता है। 'लोग क्या कहेंगे' इस निन्दा के डर से, ऐसे लोग अपना और अपने बेटों का भविष्य नष्ट कर देते हैं। निन्दा का भय मनुष्य की शान्ति का हरण कर लेता है। एक कॉलेज की कन्या प्रति रविवार को उपनिषद के प्रवचन में जाती है, तो उसकी सहेलियाँ आलोचना करते हुए कहती हैं, ''क्या अभी से भक्तिन बन गई है तू? अभी तो अपने घूमने-फिरने, मौज-मजा करने के दिन हैं। रविवार को पिकनिक पार्टी में आने के बदले तू सत्संग में क्यों जाने लगी है?'' इस प्रकार प्रतिदिन उसे आलोचना सहनी पड़ती है। ऑफिस में एक क्लर्क नियमित समय पर आता है, कोई काम पेंडिंग नहीं रखता है, सभी कार्य व्यवस्थित करता है, आनेवाले लोगों से कुछ नहीं खाता है, उनसे 'चाय' भी नहीं पीता है। ऐसा कर्मनिष्ठ क्लर्क सभी को खटकता है। उसकी आलोचना करने से कोई नहीं चूकता है। ऐसे कई दृष्टान्त हमें जीवन में देखने को मिलते हैं। ऐसे समय हम क्या करें? क्या हम अपना ध्येय, कर्तव्य, सिद्धान्त, आदर्श छोड़कर सामान्य लोगों की तरह प्रवाह में बह जाएँ या निन्दा के बाणों को निरन्तर सहते रहें?

इस सन्दर्भ में भगवान बुद्ध के जीवन की घटना से मार्गदर्शन मिलता है। भगवान बुद्ध मगध की राजधानी राजगृह के समीप स्थित वेणुवन में निवास कर रहे थे। राजधानी में भारद्वाज नाम का एक क्रोधी ब्राह्मण रहता था। उसका कोई निकटस्थ सम्बन्धी बुद्ध का शिष्य बन गया है, यह जानकर उसका क्रोध सातवें आसमान पर पहुँच गया। वह तथागत बुद्ध के पास जाकर अनर्गल गालियाँ देने लगा। भगवान बुद्ध ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया और प्रशान्त चित्त से सभी गालियाँ सुनते रहे। अन्त में ब्राह्मण थककर रुक गया, तब भगवान बुद्ध ने उससे पूछा, ''हे ब्राह्मण देवता, आपके घर कोई अतिथि आता है, तो आप क्या उसे भोजन सामग्री देते हैं?'' ब्राह्मण ने तुरन्त उत्तर दिया, ''अवश्य, मैं अतिथिधर्म जानता हूँ। मैं अतिथि को खाने-पीने को देता हूँ, दूसरी आवश्यक वस्तुएँ भी देता हूँ।'' भगवान बुद्ध ने पूछा, ''हे ब्राह्मण देवता, यदि वह अतिथि आपकी दी हुई वस्तुओं को स्वीकार न करे, तो वे वस्तुएँ किसके पास रहेंगी?'' ''क्यों, मेरे पास ही रहेंगी।'' ब्राह्मण ने कहा। भगवान बुद्ध मुस्कुराते हुए बोले, ''हे ब्राह्मण देवता, आप मेरे पास गालियों की भेंट लाए, परन्तु मुझे क्रोध नहीं आया, मैं स्वस्थ रहा, मैंने आपकी गालियों को स्वीकार नहीं किया, तब तो इन गालियों की भेंट आपके पास ही रहेंगी न?'' ब्राह्मण के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। यह प्रसंग हमें सिखाता है कि कोई निन्दा करे, गालियाँ दे परन्तु यदि हम उनको स्वीकार न करें, अर्थात अपने चित्ततंत्र में उन गालियों की कुछ भी प्रतिक्रिया न होने दें, तो ये गालियाँ और निन्दा जिसने दी है, उसे ही वापस मिलेगीं। **(क्रमशः)**

स्वामी विवेकानन्द एवं विश्व संस्कृति

प्रा. रामशरण गौराहा
जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने घोषणा की –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

हे अर्जुन, जब-जब धर्म की हानि होती है, मैं धर्म के उत्थान और अधर्म के विनाश हेतु अवतार लेता हूँ। जब भारतवासी भ्रमित हो रहे थे, अपनी सांस्कृतिक विरासत, सनातन वैदिक धर्म की उपेक्षा कर रहे थे, तब विश्व मानव को परम लक्ष्य का संदेश देने, मानव में निहित देवत्व का विकास करने के लिये युगपुरुष भगवान श्रीरामकृष्ण देव आविर्भूत हुए। उनके इस महान संदेश के प्रचारक, देवदूत बने उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द। मानवता को जगाने का जो काम प्राची में बुद्धदेव ने किया, वही कार्य सनातन सत्य के संदेशवाहक के रूप में प्राच्य-पाश्चात्य में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने किया।

'आत्माओं' के उद्बोधक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशों में चार वर्षों तक अपने आध्यात्मिक क्रिया-कलापों से पाश्चात्यवासियों को आध्यात्मिकता की ओर मोड़कर जाति और सम्प्रदाय की सीमा से बाहर निकाला। चाहे पूरब हो या पश्चिम, सर्वत्र ही वे आत्माओं के उद्बोधक रहे। इसीलिये आज पूरा विश्व उन्हें अपना आदर्श मानता है। उनकी १५०वीं जन्म शताब्दी भारत के अतिरिक्त यूरोप, अमेरीका आदि विश्व के सभी देशों में व्यापक स्तर पर मनाई गई।

स्वामी जी का सेवाधर्म

एक बार जब विवेकानन्द ने अपने गुरु श्रीरामकृष्ण देव से लगातार ध्यान में समाधिस्थ रहने की इच्छा व्यक्त की थी, तब उनके गुरुदेव ने उन्हें फटकारते हुए कहा था – **''धिक्कार है तुम्हें, अरे, मैंने तो सोचा था, तुम एक विशाल वट वृक्ष की तरह बनोगे, जिसकी छाया तल में लोग शान्ति प्राप्त करेंगे।''** श्रीरामकृष्ण ने उन्हें 'शिवभाव से जीवसेवा' का उपदेश दिया था। 'शिवभाव से जीवसेवा' के संदेश ने स्वामीजी के जीवन की दिशा ही बदल दी। उन्होंने मानव सेवा ही भगवान की सर्वोत्तम सेवा है, इस सार्वभौमिक सेवादर्श का पूरे विश्व में प्रचार किया।

भारतीय ऋषियों के तत्त्वज्ञान के सार को उन्होंने रेखांकित किया कि मानव जीवन का परम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष है। इसकी प्राप्ति का मार्ग है सेवा।

सेवा कैसे करें? उन्होंने कहा, सेवा का एकमात्र उपाय है दूसरों के लिये जीना। अपने लिए तो सभी जीते हैं, पर जो दूसरों के लिये जीता है, उसी का जीवन धन्य है। मैसूर के महाराजा को भेजे गये एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा – 'प्रिय महाराज, जीवन क्षणभंगुर है, जीवन के भोग क्षणस्थायी हैं। वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं।'

स्वामीजी ने विश्व की मानवता को दूसरों के लिये जीने का राजमार्ग दिखाया। समाज में जो दीन-दुखी निर्धन हैं, उनकी सेवा करने का सन्देश दिया। स्वामीजी कहते हैं, ''तुमने पढ़ा है, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव – अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो, परन्तु मैं कहता हूँ – दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव – गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुखी इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।''

मानव के विकास हेतु धर्म और विज्ञान का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग

स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञान और धर्म, दोनों के महत्त्व को स्वीकार कर उनके समन्वय का मार्ग दिखाया। विज्ञान द्वारा परिवर्धित बुद्धि यदि विवेक शून्य हो, तो समाज का विनाश कर सकती है। सहृदयता से रहित तर्क संसार को रक्त से परिप्लावित कर सकता है। स्वामीजी मानते थे, मानव विज्ञान द्वारा रोग, दरिद्रता और अशिक्षा पर विजय पा सकता है, विज्ञान एवं धर्म के परस्पर सहयोग से संसार

अपनी वर्तमान संकटापन्न स्थिति से मुक्ति पा सकता है।

सर्वधर्म समन्वय

रामकृष्ण देव द्वारा विभिन्न धर्मों की साधना से सार सूत्र प्राप्त होता है – 'जितने मत उतने पथ।' जैसे शास्त्रों में कहा गया है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' ब्रह्म एक है, किन्तु ऋषि-मुनि उनका बहुबिधि प्रतिपादन करते हैं। सभी धर्म उस ब्रह्म की अनुभूति के विभिन्न मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसलिए धर्म के नाम पर आपसी कलह, 'मेरा धर्म श्रेष्ठ है और दूसरे का निम्न' ऐसी भावना ठीक नहीं है। अत: वे सर्वधर्म-समन्वय के संदेशक बने।

मानव आध्यात्मिक शक्तियों का भण्डार है

भारत के राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, "स्वामी विवेकानन्द ने हमारे सम्मुख एक महान आदर्श रखा है कि अपनी आन्तरिक शक्तियों पर विश्वास करो। जान लो कि मानव आध्यात्मिक शक्तियों का अक्षय भण्डार है। उसकी आत्मा सर्वोपरि है। मानव-शक्ति अद्वितीय है। जगत् में कुछ भी असम्भव नहीं है। हम भीषणतम विपत्तियों तथा बाधाओं पर विजय पा सकते हैं। उन्होंने हमें संकट में सहनशीलता की शिक्षा दी। दुख में धैर्य और निराशा में उत्साह दिया। सबके भीतर अनन्त शक्ति छिपी है। इस शक्ति के प्रगटन के लिए प्रयत्नरत रहो। यही इस मानव जीवन का उद्देश्य है।"

मानव जन्म का उद्देश्य भोग–वासना नहीं अपितु सर्वोच्च सत्य की प्राप्ति है

शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामीजी ने कहा, "मैं विज्ञान और तकनीक का स्वागत करता हूँ। मुझे खुशी है कि तुम्हारे देशों में भौतिक सुख समृद्धि है। लेकिन यह मत सोचो कि मानव जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त है। खाओ, पिओ और मौज करो– क्या मानव जीवन का यही लक्ष्य है? कदापि नहीं। मनुष्य ने इन्द्रिय सुखों के लिए, मात्र सांसारिक वासनाओं के भोग हेतु जन्म नहीं लिया है, अपितु उसका जन्म तो ज्ञान प्राप्ति के लिए, सत्य की खोज के लिये और सर्वोच्च सत्य प्राप्त होने तक, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य तक पहुँचने के लिये हुआ है। लगभग १२५ वर्ष पूर्व १८९४-९५ में स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों को आगाह किया था – "मैं देख रहा हूँ कि तुम युद्ध की ज्वालामुखी के कगार पर खड़े हो। वह ज्वालामुखी अगले २० वर्षों में फूट पड़ेगी।" बीस वर्ष होते न होते मानवता ने १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका देखी। उसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ, जो पहले से भी अधिक विनाशकारी, अत्यंत प्रलयकारी था।

विश्व-संस्कृति स्थापना हेतु भारतीय पारिवारिक व्यवस्था की अनुशंसा

भारतवर्ष में पारिवारिक व्यवस्था भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण के युग से और उसके पहले से ही है। परिवार समाज की लघुतम इकाई है। भारतीय जीवन-पद्धति में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यक्ति के जीवन को गढ़नेवाली नियामक प्रेरणाएँ परिवार से ही आती हैं। स्वामीजी ने भारतीय विवाह, व्रत और मातृत्व के आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं राष्ट्रों के समक्ष इसकी विशेषता और आदर्श को स्थापित किया।

उन्होंने श्रेष्ठ और संस्कारित संतान प्राप्ति हेतु माता-पिता को पवित्र, संयमित-जीवन, ईश्वर-प्रार्थना एवं सदाचार पर जोर दिया। उन्होंने कहा, "मेरे माता-पिता ने कितने दिनों तक भगवान से प्रार्थना की, व्रत रखा था, ताकि उन्हें एक संतान प्राप्त हो। अमेरिकी देवियो! मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, क्या आप अपनी संतान की प्राप्ति के लिये ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करना चाहती हैं? क्या आप माता होने के लिए कृतज्ञ हैं? क्या आप समझती हैं कि मातृत्व को प्राप्त करके आप पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सकती हैं? आप अपना हृदय टटोलें और यदि नहीं तो आपका विवाह मिथ्या है। आपका नारीत्व मिथ्या है। आपकी शिक्षा एक ढकोसला है और यदि आपके बच्चे बिना प्रार्थना के जन्म लेते हैं, तो वे संसार के लिए अभिशाप हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द, भारत की पुरातन वैदिक परम्पराओं और विचारों के आधुनिक प्रवक्ता के रूप में विश्व-संस्कृति में एक आदर्श पुरोधा हैं।

OOO

समाचार और सूचनाएँ

परम पूज्य स्वामी शिवमयानन्द जी महाराज का छत्तीसगढ़ प्रवास

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ न्यासी और दीक्षागुरु परम पूज्य स्वामी शिवमयानन्द जी महाराज १८ मार्च, २०१७ को प्रात: लगभग १० बजे **रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर** में पधारे। महाराजजी ने १९ मार्च को दीक्षार्थियों से साक्षात्कार किया। २० मार्च को महाराज ने जिज्ञासु-भक्तों को दीक्षा प्रदान की। उन्होंने २१ मार्च को, प्रात: ८.३० बजे **रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर** के लिये प्रस्थान किया। २२ और २६ मार्च को वे वहाँ दीक्षार्थियों से मिले और २३, २४, २७, २८ मार्च को जिज्ञासुओं को दीक्षा प्रदान की। २९ मार्च को महाराज पुन: रायपुर पहुँचे। २९ मार्च की शाम को महाराजजी ने **विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर** में 'विवेकानन्द युवा-सम्मेलन का उद्घाटन किया।

रामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर में दीक्षा हुई

३० मार्च को प्रात: ८.३० बजे महाराज जी ने रामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर के लिये प्रस्थान किया। वहाँ वे लगभग ११.३० बजे पहुँचे। भक्तों ने मंगल ध्वनि और पुष्पवृष्टि कर महाराज जी का स्वागत किया। ३१ मार्च को महाराज जी दीक्षार्थियों से मिले। १ और २ अप्रैल को महाराज जी ने भक्तों को दीक्षा प्रदान की। २ अप्रैल की शाम को महाराजजी वहाँ से ७ किलोमीटर दूर दुर्गामन्दिर में दर्शन करने गये। ३ अप्रैल को प्रात: ६ बजे महाराज ने नन्दिकेशवर शिव का दर्शन किया और ८.३० बजे वे रतनपुर महामाया का दर्शन करने गये। वहाँ विधिवत महाराज ने माँ की पूजार्चना की। उनके साथ थे स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी अव्ययात्मानन्द, स्वामी दुर्गानन्द, स्वामी अनुग्रहानन्द, स्वामी व्रजनाथानन्द। भक्तमंडली में थे श्री सतीशकुमार द्विवेदी, ओंकार शर्मा, सुरेश चन्द्राकर, विमल चतुर्वेदी आदि। ३ अप्रैल को शाम ६ बजे महाराज ने बेलूड़ मठ के लिये प्रस्थान किया।

रामकृष्ण मिशन, ढाका ने 'समाज के विकास के लिये आदर्शोन्मुखी शिक्षा' पर दिनभर का सेमीनार आयोजित किया। इसमें २४ जिलों के ५०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिसमें ३७५ छात्र और १२५ शिक्षक थे। रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलूड़ मठ के न्यासी स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज और गृह राज्यमन्त्री श्री असादुज्जमान खान ने सम्मेलन का उद्घाटन किया। ढाका विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रो. सैयद अनवर हुसैन मुख्य अतिथि थे।

रामकृष्ण मिशन दिव्यायन कृषि केन्द्र, राँची को १५ मार्च को भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद द्वारा 'पं दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय कृषि विज्ञान प्रोत्साहन पुरस्कार' २०१६ से नई दिल्ली में पुरस्कृत किया गया।

भगिनी निवेदिता की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित हुए

रामकृष्ण मिशन, विजयवाड़ा ने भगिनी निवेदिता की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में १९ फरवरी, २०१७ को आश्रम परिसर में जागृति सांस्कृतिक प्रतियोगिता का आयोजन किया, जिसमें भगिनी निवेदिता और स्वामी विवेकानन्द पर आधारित निबन्ध, व्याख्यान और प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिताएँ हुईं। इसमें ५० विद्यालयों के १३०० छात्र सम्मिलित हुये। विजेता छात्रों के पुरस्कार के अतिरिक्त सभी प्रतिभागी छात्रों को तेलुगु भाषा में 'आत्मविकास' नामक पुस्तक और स्वामी विवेकानन्द का लेमीनेटेड फोटो दिया गया।

रामकृष्ण मठ, नागपुर में ६ मार्च को वार्षिक सार्वजनिक सभा आयोजित हुई, जिसमें लगभग ५०० भक्त उपस्थित थे।

रामकृष्ण मिशन, मालदा में १८ मार्च को भगिनी निवेदिता पर नाटक का मंचन हुआ, जिसमें १००० लोगों ने भाग लिया।

रामकृष्ण आश्रम, मैसूर में १८ मार्च को भगिनी निवेदिता पर व्याख्यान आयोजित हुए, जिसमें महाविद्यालय के १४५ छात्रों ने भाग लिया। ○○○